

श्री चन्द्रधिं महत्तर प्रणोद

पंचसंग्रह

[उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपण। अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी
श्री मिश्रीमल जी महाराज

दिशा निवेशक

मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्दजी म० 'रजत'

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्म-सिद्धान्त का सबौगीण तथा प्राभाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिजासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तारपूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन हुआ है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की नीत्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अन्यासी श्रो देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३६ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया । गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व संपते हुए फरमाया 'मेरे शरीर का कोई भी भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो' । उस समय यह बात सामान्य लग रही थी । किसे जात था कि गुरुदेवश्री हमें हतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे । किंतु क्रूर काल की विहम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रित्तता-सी छा गई । गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपुरणीय क्षति अनुभव करने लगा ।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकन्तमुनि जो महाराज के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है । श्रीयुत सुराना जी एवं श्री देवकुमार जो जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है ।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है ।

आशा है जिजामु पाठक लाभान्वित होंगे ।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान

जोधपुर

| आमुख |

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ सूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख में चक्र में पिस रहा है। अजर-अभर एलाच भी जन्म-नृत्य के प्रगति दें रह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कर्म च जाई मरणहस्त मूलं। भगवान् श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरबादी दशाओं ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्व वैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसके साथ संबद्ध कर्म को माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-व्यवहारी आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलबान और शक्ति-सम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेने हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत् के समस्त परिवर्तनों का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है । जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तर-वर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है । वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वदभोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है । थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गौँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है ।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मबाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है । ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं । गुजराती में भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है । हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ । पूज्य गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में पंचसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है । आशा है, इसमें सभी लाभान्वित होंगे ।

—सुकरमुनि

सम्पादिकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सम्बन्ध में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रधित महत्तरबृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाए। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पालो (मारवाड़) में विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, अमण्डुर्द श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया—विचार प्रशास्त्र है और जाहता भी है कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके धार्षीबदि से सम्पन्न होगा ही, आपकी को प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ को गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैःकंथा' की मति से करते-करते आदेश से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चातुर्मास तक तंथार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्चो ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया चरंवेति-चरंवेति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कर्मययडी' (कर्मप्रज्ञति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया।

अर्थात्रोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थातरों, मतान्तरों के मन्त्रब्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस अध्यात्म कार्य की स्थानतापूर्ति गुरुदेव के बरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थं कृतज्ञ हूँ। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधराभूषण श्री सुकन्मुनिजी का हर्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पायेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सस्नेह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि संद्वाप्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्रस्तुपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्वलनामा मानकर त्रुटि का संशोधन, परिमाजन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे जानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावता तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनाम्र श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते ।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

प्राकृकथन

पंचसंग्रह के इस अधिकार में उपशमना, निद्रात्ति और निकाचना इन तीन करणों की प्रलृपणा की गई है। यद्यपि उपशमना, निद्रात्ति और निकाचना रूप स्थिति कर्मदलिकों की बनती है, परन्तु उस प्रकार की स्थिति बनने में जीव के परिणाम कारण होने से इस अर्थ का बोध कराने के लिये उनके साथ करण शब्द का प्रयोग किया है।

इन तीनों में मुख्य उपशमनाकारण है। इस उपशमनाकारण के दो भेद हैं—सर्वोपशमना और देशोपशमना। देशोपशमना, निद्रात्ति और निकाचना में प्रायः समानता है परन्तु तिन्हें हुए कर्म में उद्वतंना और अपवर्तना यह दो करण ही प्रवर्तित होते हैं और निकाचित में कोई करण प्रवर्तित नहीं होता। यह कर्मों की दशा आत्म-परिणामों की परिणतिविशेष में संभव होने के कारण इनका पृथक से वर्णन किया जाता है।

देशोपशमना, निद्रात्ति और निकाचना प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की होती है तथा मूल प्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा क्रमशः आठ और एकसी अट्ठावन प्रकार से होती है और स्वामी आदि भी प्रायः समान हैं। लेकिन सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। यह यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति—इन तीन करणों द्वारा होने से सर्वोपशमना कहलाती है। करणकृत होने से ही आत्मा अपने स्वरूप की उपलब्धि करती है। इसलिये यह महत्वपूर्ण है और इसका विस्तार से वर्णन किया है।

विषय प्रवेश के रूप में जिसका परिचय इस प्रकार है—

सर्वप्रथम करणकृत और अकरणकृत इस प्रकार से उपशमना के दो प्रकारों को बतलाकर दोनों के सार्थक पर्यायवाची नाम बताये हैं।

अकरणकृत उपशमना का संप्रदाय विच्छिन्न हो जाने से मुख्यतया करणकृत उपशमना का विचार किया है। इस करणकृत उपशमना का अपरनाम सर्वोपशमना है और यह सिर्फ मोहनीयकर्म की होती है।

सर्वोपशमना का विस्तार से वर्णन १. सम्यक्त्वोत्पाद प्रूपणा, २. देशविरतिलाभ, ३. सर्वविरति लाभ, ४. अनन्तानुबंधि-विसंयोजना, ५. दर्शनमोहनीय क्षणा, ६. दर्शनमोहनीय उपशमना, ७. चारित्रमोहनीय उपशमना — इन सात ढारों द्वारा किया गया है। यद्यपि देशविरतिलाभ आदि चार ढारों में मोहनीयकर्म की किसी भी प्रकृति की सर्वथा उपशमना नहीं होती है, फिर भी सर्वोपशमना के प्रसंग में उनको ग्रहण इसलिये किया है कि चारित्र-मोहनीय की उपशमना देश और सर्वविरति को प्राप्ति होने के बाद ही होती है तथा अनन्तानुबंधि को विसंयोजना करने के बाद ही चारित्र मोहनीय की उपशमना होती है और दर्शनश्रिक का क्षय करने के बाद भी चारित्रमोहनीय की उपशमना होती है। इसीलिये इन चार ढारों का भी सर्वोपशमना के प्रसंग में ग्रहण किया है। अन्यथा मूल मतानुसार तो सर्वोपशमना के सम्यक्त्वोत्पाद प्रूपणा, दर्शनश्रिक उपशमना, चारित्रमोहनीय उपशमना ये तीन और अन्य आचार्यों के मतानुसार अनन्तानुबंधि की उपशमना सहित चार ढार हैं। ऐसा वर्णन से प्रतीत होता है।

यह सब कथन करने के बाद प्रथम सम्यक्त्वोत्पाद प्रूपणा का निर्देश किया है।

प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव की योग्यता को बतलाया है कि सबं पर्याप्तियों से पर्याप्ति, उपशमलब्धि, उपदेश अवणलब्धि और प्रयोगलब्धि से युक्त संज्ञीपञ्चेन्द्रियजीव सम्यक्त्व उत्पन्न करने का अधिकारी है।

अनन्तर यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति इन तीन करणों की विस्तृत व्याख्या की है। अपूर्वकरण का स्वरूप बतलाने के प्रसंग में स्थितिघात, रसघात, गुणश्वेणि और बघकादा (अपूर्व स्थितिबंध) का

विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। यहीं चार पदार्थ अनिवृत्तिकरण में भी होते हैं और अनिवृत्तिकरण काल का संस्थात्वां भाग शेष रहने पर स्थिति का अन्तरकरण होता है। अतरकरण होने पर नीचे और ऊपर की स्थिति—इस प्रकार से स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। नीचे की स्थिति को प्रथमस्थिति और ऊपर की स्थिति को द्वितीयस्थिति कहते हैं। बीच की भूमिका शुद्ध होती है। जिसमें कोई भी दसिक भोगने योग्य नहीं रहता है। इसी समय प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। जिसका काल अतमुहूर्त है।

उपशाताद्वा के अंत में अध्यवसायो के अनुसार सम्यक्त्वपुंज का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की, मिश्रपुंज का उदय होने पर मिश्रगुणस्थान की और मिथ्यात्वपुंज का उदय होने पर मिथ्यात्व-गुणस्थान की प्राप्ति होती है तथा उपशमसम्यक्त्व काल में एक समय यावत् छह आवलिका काल शेष रहने पर अशुभ परिणाम होने से कोई सासादनभाव को भी प्राप्त होता है और उसके बाद वहाँ से गिरकर अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त करता है।

इस प्रकार से प्रथम सायक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का सांगोपांग विवेचन करने के बाद चारित्रमोहनीय-उपशमना प्ररूपणा का कथन प्रारंभ किया है। सर्वप्रथम देशविरति, सर्वविरति लाभ और स्वामित्व को बतलाने के बाद अविरतसम्यग्हटि, देशविरति और सर्वविरति का स्वरूप बतलाया है।

अनन्तर क्रमप्राप्त अनन्तानुबंधि-विसंयोजना की तथा जो आचार्य अनन्तानुबंधि की उपशमना मानते हैं, उनके मतानुसार उपशमना प्ररूपणा की है।

तत्पश्चात् दर्शनमोहक्षण का विस्तार से वर्णन किया है और अंत में बतलाया है कि क्षायिक सम्यक्त्वी कितने भव में मोक्ष प्राप्त करता है—इसके बाद चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व

एवं दर्शनमोहनीयशिक की उपशमना-विधि का निरूपण किया है। फिर चारित्रमोहनीय की उपशमना विधि का यथाक्रम से वर्णन किया है। साथ में अश्वकर्णकरण में करने योग्य का एवं किटियों के स्वरूप का और किटियों के रस और प्रदेश के अत्प्रबुत्त्य का वर्णन किया है।

चारित्रमोहनीय के उपशम होने की पूर्णता यारहके उपशान्त-मोहणस्थान में होती है। अतएव इस गुणस्थान का विस्तार से स्वरूप वर्णन किया है और इसके बाद पतनकर अबद्धायुषक जीव विलोम क्रम से नीचे-नीचे छड़े प्रमत्तसंयत गुणस्थान में और उसके बाद पतन कर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है और आरोहण करते समय जिस क्रम से जिस-जिस गुणस्थान में जिन-जिन प्रकृतियों का विच्छेद हुआ था, उसी क्रम में अवरोहण करते समय यथाक्रम से उस-उस गुणस्थान के प्राप्त होने पर उन-उन प्रकृतियों के बंधादि होने का कारण सहित स्पष्टीकरण किया है।

इसके बाद स्त्री और नपुंसक वेदोदय की अपेक्षा उपशमशेणियों होने का निरूपण करके सर्वोपशमना का वर्णन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार से करणकृत उपशमना का निर्देश करने के बाद अकरणकृत उपशमना—देशोपशमना की व्याख्या की है कि यह प्रकृति, स्थिति आदि के भेद से चार प्रकार की है और ये चारों भेद भी मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से दो-दो प्रकार के हैं तथा देशोपशमना द्वारा शमित दलिकों में उद्दर्तना, अपवर्तना और संक्रम यह तीन करण होते हैं, जोप करण लागू नहीं होते हैं तथा अपूर्वकरण गुणस्थान तक के जीव ज्ञानावरणादि सभी आठों मूल और एकसौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियों की देशोपशमना के स्वामी हैं। फिर प्रकृतियों और प्रकृति-स्थानों की साद्यादि प्ररूपण करके प्रकृति देशोपशमना का वर्णन समाप्त हुआ। इसी प्रकार से स्थिति, अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना की प्ररूपण करके उपशमनाकरण की विवेचना पूर्ण की।

तदनन्तर प्रायः देशोपशमना जैसे निष्ठति और निकाचना इन दो करणों की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन करके बंधनकरण से प्रारंभ हुए कर्म-प्रकृति विभाग के आठ करणों की प्ररूपणा समाप्त की है।

उपशमनादि करणश्रय का समस्त विवेचन एक सौ चार ग्रामों में पूर्ण हुआ है।

यह वर्ण्य विषय की संक्षिप्त रूपरेखा है। विशेष जानकारी के लिये अधिकार का सांगोपांग व्यव्ययन करना आवश्यक है।

खजांची भौहल्ला
बीकानेर ३३४००१

—देवकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

गाथा १	३—५
उपशमना के प्रकार	३
देशोपशमना और सर्वोपशमना के पर्यायिकाओं नाम व नामकरण का कारण	४
देशोपशमना के प्रकार	४
सर्वोपशमना के अर्थाधिकार	५
गाथा २,३,४	५—८
प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीव की योग्यता	६
गाथा ५	८
करणश्रय के नाम	८
गाथा ६	८—१०
यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का विवेचन	८
उक्त करणश्रय का प्रारूप	१०
गाथा ७	११—१२
प्रथम दो करणों में विशुद्धि का स्पष्टीकरण	११
अनिवृत्तिकरण में विशुद्धि का स्पष्टीकरण	१२
गाथा ८,९	१२—१६
यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि का तारतम्य	१३
गाथा १०	१६—१७
अपूर्वकरण की विशुद्धि का स्पष्टीकरण	१६

गाथा ११	१८
ब्रह्मकरण की अन्य विशेषताओं के नाम	१८
गाथा १२	१९—२०
स्थितिवात् की व्याख्या	१९
गाथा १३	२०—२१
रसवात् का विवेचन	२१
गाथा १४	२२—२३
गुणश्रेणि की व्याख्या	२२
गाथा १५	२४
अपूर्व स्थितिबंध का स्वरूप	२४
गाथा १६, १७, १८	२४—२५
अनिवृत्तिकरण का निरूपण	२५
गाथा १९, २०, २१	२७—३०
अन्तरकरण की विधि	३०
गाथा २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८	३०—३६
उपशम सम्यक्त्व के पदचात् की स्थिति	३१
गाथा २९	३७
देशविरति सर्वविरति लाभ स्वामित्व	३७
गाथा ३०, ३१, ३२, ३३	३७—४४
अविरत सम्यग्छिट आदि का स्वरूप एवं तत्संबन्धी विशेष वक्तव्य	४८
गाथा ३४, ३५	४८—५१
अनन्तानुबंधि की विसंयोजना	५५
अनन्तानुबंधि की उपशमना (मतान्तर)	५६
गाथा ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६	५२—६३
दर्शनमोह की क्षणाविधि	५२

गाथा ४७	६३—६५
शायिक सम्यकत्वी का मुक्तिगमन	६३
चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व	६४
गाथा ४८, ४९	६५—६७
दर्शनत्रिक की उपशमना विधि	६६
गाथा ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०	६७—८०
चारित्रमोहनीय की उपशमना विधि	६७
गाथा ६१	८१—८२
संज्वलनकषायद्युष्मा और वेदाभिक का स्थायपकाल	८१
गाथा ६२, ६३, ६४	८२—८४
अन्तरकरण के साथ और अनन्तर संभव कार्य	८३
गाथा ६५, ६६, ६७	८४—८८
अन्तरकरण में प्रविष्ट जीवों के नवीन स्थितिबंध का स्पष्टीकरण	८७
गाथा ६८	८८
हास्यषट्क के उपशांत होने के अनन्तर पुरुषवेद के अनुपशांत दलिक का प्रमाण	८८
गाथा ६९, ७०	८९—९१
पूर्वोक्त का स्पष्टीकरण	९१
गाथा ७१, ७२	९१—९६
अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की उपशमना	९२
गाथा ७३	९६—९८
उपशमश्रेणि में संज्वलन क्रोधादि का उदय के चरम समय में जघन्यस्थितिबंध प्रमाण	९९
गाथा ७४	१०८—१००
संज्वलनलोभ की वक्तव्यता	१०१

गाथा ७५	१००—१०१
अश्वकर्णकरणाद्वा में करणीय	१००
गाथा ८६	१०१—१०२
किटियों का स्वरूप	१०२
गाथा ७७,७८,७९	१०२—१०७
किटियों संबन्धी पूर्वोक्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण	१०३
किटियों के रस और प्रदेश का अल्पवहृत्व	१०६
गाथा ८०	१०६—१०८
संज्वलन लोभ की पतद्व्रह्मता न रहने पर शेष लोभद्वय का स्वस्थान में उपशमन	१०८
गाथा ८१,८२,८३	१०८—११३
किटिकरणाद्वा के चरम समय में संभव कार्य	१०९
गाथा ८४,८५	११३—११७
उपशांतमोहगुणस्थान का स्वरूप	११४
उपशांतमोहगुणस्थान से पतन का क्रम	११५
गाथा ८६,८७,८८,८९,९०,९१,९२,९३	११८—१२६
पतनोत्मुखी उपशांतमोही की दलरचना आदि का स्पष्टीकरण	११८
गाथा ९४	१२६—१२७
स्त्री-नपुंसक वेदोदयापेक्षा उपशमधेणि विधि	१२६
गाथा ९५,९६	१२८—१२९
देशोपशमना का स्वरूप, स्वामी	१२९
गाथा ९७	१२९—१३०
देशोपशमना स्वामित्व विषयक विशेष	१३०
गाथा ९८	१३१—१३२
सादि-अनादि प्ररूपणा	१३१

गाथा १६	१३२—१३३
प्रकृतिस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा	१३२
गाथा १००	१३५—१३६
स्थिति देशोपशमना	१३५
गाथा १०१	१३७—१३८
अमुभाग-प्रदेश देशोपशमना	१३७
निष्ठत्ति-निकाचनाकरण	
गाथा १०२	१३९—१४०
निष्ठत्ति और निकाचनाकरण प्ररूपणा	१३९
गाथा १०३	१४०
देशोपशमना आदि में प्रदेशों का अल्पबहुत्व	१४०
गाथा १०४	१४१
आठों करणों के अव्यवसायों का अल्पबहुत्व	१४१
परिशिष्ट	
उपशमनादि करणश्रय प्ररूपणा अधिकार की मूल	
गाथाएँ	१४२
प्रकरणगत गाथाओं की अकारादानुक्रमणिका	१५१
सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का सारांश	१५३
अनन्तानुबंधि की विसंयोजना एवं उपशमनासबन्धी विधि	१६५
दर्शनश्रिक की उपशमना विधि	१६७
दर्शनश्रिक क्षणणा की विधि	१६८
चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व	१७४
चारित्रमोहनीय की सर्वोपशमना विधि का संक्षिप्त	
सारांश	१७६
भिन्न भिन्न कथाय और वेद के उदय से श्रेणि आरो-	
हण क्रम	१८३

श्रीमदाचार्य चन्द्रिमहत्तर-विरचित
पंचसंग्रह
(मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त)

उपशमनादि करणत्रय-
प्ररूपणा अधिकार

३ उपशमनादि करणलय-प्ररूपणा अधिकार (उपशमना-निधनि-निकालना करण)

उदीरणाकरण का विस्तार से विवेचन करने के पश्चात् अब उपशमनादि तीन करणों का अनुक्रम से प्रतिपादन करते हैं। उपशमनाकरण का आद्य गाथा सूत्र इस प्रकार है—

देशुवसमणा सव्वाण होइ सव्वोवसमणा मोहे ।

अपसत्था पसत्था जा करणुवसमणाए अहिगारो ॥१॥

शब्दार्थ—देशुवसमणा—देशोपशमना, सव्वाण—सब की होड़ होनी है,

सव्वोवसमणा—सबोपशमना, मोहे—मोहनीय कर्म की, अपसत्था अप्रशस्त, पसत्था—प्रशस्त, जा—जिनके, करणुवसमणाए—करणोपशमना का अहिगारो—अत्रिकार ।

गाथार्थ—देशोपशमना सब आठों कर्मों की और सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। जिनके अनुक्रम से अप्रशस्त और प्रशस्त ये अपरनाम हैं। यहाँ करणोपशमना के विचार का अधिकार है।

विशेषार्थ—गाथा में उपशमना की रूपरेखा प्रस्तुत की है कि—

उपशमना के दो प्रकार हैं—१ देशोपशमना २ सर्वोपशमना। उनमें से देशोपशमना समस्त याती आठों कर्म प्रकृतियों को होती है, किन्तु सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। देशोपशमना के देशोपशमना, अनुदयोपशमना, अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना तथा सर्वोपशमना के सर्वोपशमना, उदयोपशमना, गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना ये पर्यायिकाची नाम हैं।

उक्त पर्यायिकाची नामकारण होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सत्ता में रहे हुए कर्मदलिकों को ऐसी स्थिति में स्थापित करना कि जिनमें उद्द्वर्तना, अपवर्तना और संक्रम के सिवाय अन्य कोई करण नहीं लगे। देशोपशमना को सर्वोपशमना की तरह सर्वथा और असंख्यात् गुणाकार रूप से दलिकों की उपशमना नहीं होने से देशोपशमना और अगुणोपशमना कहते हैं। जिसका देशोपशम हुआ हो, उसका उदय भी हो सकता है, इसीलिये अनुदयोपशम ऐसा भी नाम है तथा सर्वोपशम होने के बाद जैसे गुण का पूर्णरूपेण स्वरूप प्रगट होता है, वैसा देशोपशमना में नहीं होता है, इसीलिये देशोपशमना को अपशस्त्रोपशमना भी कहते हैं।

सर्वोपशमना को प्रशस्त्रोपशमना आदि कहने का कारण यह है— सत्ता में विद्यमान द्वितीय स्थितिगत दलिक अन्तरकरण करने के बाद पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में असंख्यात्-असंख्यात् गुणाकार रूप से उपशांत करके इस प्रकार की स्थिति में स्थापित किया जाता है कि जिसमें संक्रमादि कोइ भी करण लागू नहीं पड़ता है और न अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उदय भी होता है। इसीलिये उसे सर्वोपशमना और उदयोपशमना कहा जाता है। उपशमन क्रिया प्रारम्भ होने के बाद प्रतिसमय असंख्यात्-असंख्यात् गुण दलिक उपशमित होते हैं, इसीलिये गुणोपशमना यह भी नाम है और सर्वोपशमना होने के बाद वह कर्म जिस गुण को आबृत करता है वह गुण सम्पूर्ण रूप से अनावृत हो जाता है, इसीलिये प्रशस्त्रोपशमना यह चौथा पर्याय नाम है।

देशोपशमना दो प्रकार से होती है—१ यथाप्रवृत्त आदि करण पूर्वक और २ करण के सिवाय। किन्तु सर्वोपशमना तो यथाप्रवृत्तादि तीन करणों^१ से ही होती है और उनके द्वारा की जाने वाली उपशमना करणकृत उपशमना कहलाती है।

१ यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण हैं। इनका स्वरूप आगे बताया जा रहा है।

पर्वतीय नदी के पत्थर के स्वयमेव गोल होने के त्याय में संसारी जीवों को यथाप्रबृत्तादि करणों से साध्य क्रियाविशेष के बिना ही वेदन-अनुभव आदि कारणों से हुए प्रशस्त परिणामों द्वारा जो उपशमना होती है, वह करणरहित—अकरणोपशमना कहलाती है। इस अकरणोपशमना का अनुयोग—व्याख्यान—वर्णन वर्तमान में उसके स्वरूप के ज्ञाता के अभाव में विच्छिन्न—नष्ट हो गया है। इसलिये करण द्वारा सम्भव अवास्तु एवं अवश्यस्त उपशमनाओं के विचार दा यहाँ अधिकार है। उनमें भी विशेष कथनीय होने से प्रथम सर्वोपशमना का विचार करते हैं। उसके विचार के निम्नलिखित अर्थाधिकार-विषय हैं—

१ प्रथमसम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, २ देशविरतिलाभप्ररूपणा, ३ सर्वविरतिलाभ प्ररूपणा, ४ अनन्तानुबंधविसंयोजना, ५ दशनमोहनीयप्रपणा, ६ दर्शनमोहनीयोपशमना और ७ चारित्रमोहनीयोपशमना।

उक्त सात विषयों में से प्रथम सम्यक्त्व कैसे—किस क्रम से उत्पन्न होता है? उसका विचार करते हैं।

प्रथम सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा

सद्वृद्धसमणजोगो पञ्जत्त पर्णिदि सण्णि सुभलेसो ।

परियत्तमाणसुभपगद्बन्धगोऽतीव सुज्ञतो ॥ २ ॥

असुभसुभे अणुभागे अणंतगुणहाणिवुड्डिपरिणामो ।

अन्तोकोडाकोडीठिइओ आउ अबंधतो ॥ ३ ॥

बन्धादुत्तरबन्धं वलिओवमसंखभागऊणूणं ।

सागारे उवओगे बट्टन्तो कुणइ करणाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सद्वृद्धसमणजोगो—सर्वोपशमना के योग्य पञ्जत्त—पर्णिदि—पञ्चेन्द्रिय, सण्णि—मंजी, सुभलेसो—शुभ लेप्ता वाना, परिपत्तमाणसुभपगद्बन्धगो—परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का व्रंशक, अतीवसुज्ञतो—अस्यन्त शुद्ध।

असुभसुभे—अणुभ और शुभ प्रकृतियों के, अणुभाग—अनुभाग-रस को, अणंतगुणहाणिवुड्डिपरिणामो—क्रमशः अनन्त गुणहीन और वृद्धिपरिणाम वाला

बांधता हुआ, अन्तोकोड़ाकोडीठिहओ— अन्तोकोड़ाकोडी गियति च.ला, अ.उ—
आगु को, अबंधतो— नहीं बांधता हुजर।

बन्धावृत्तरब्दधि— उत्तरोन्तर बंध को पत्तिभोवमसंखभागङ्गाम पर्याप्तम
के संख्यात्वें भाग न्यून करना हुआ, सायारेडवओरो— साकारोपयोग में बद्धतो
—वर्तमान, कुण्ड—करत है, करणाद—करणों को।

गाथार्थ—सर्वोपशमना के योग्य, पर्याप्ति, पंचेन्द्रिय संज्ञी,
शुभ लेश्या वाला, परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का बधक, अत्यन्त
शुद्ध तथा अशुभ और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को उत्तरोत्तर क्रमशः
अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण वृद्धि रूप से बांधता हुआ, उत्तरो-
त्तर बंध को पत्तिभोवम के संख्यात्वें भाग न्यून बांधने वाला और
साकारोपयोग में वर्तमान जीव मिथ्यात्व का सर्वोपशम करने के
लिये करणों को करता है।

विशेषार्थ— इन तीन गाथाओं में सर्वप्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने
वाले जीव की योग्यता आदि का उल्लेख किया है—

मिथ्यात्व को सर्वोपशमना के योग्य—सक्तम समस्त पर्याप्तियों से
पर्याप्ति, १—उपशमलब्धि (मिथ्यात्वमोहनीयकर्म को सर्वथा गांत
करने की योग्यता वाला एवं जिसके भव्यत्वभाव का परिपाक हो चुका
है) २—उपदेशश्रवणलब्धि (उपदेश श्रवण करने की योग्यता) और
३—प्रयोगलब्धि (मनोयोग, बचनयोग और काययोग में से कोई भी
एक योग युक्त) इन तीन लब्धियों (शक्तियों) में युक्त सज्जी
पंचेन्द्रिय है।

वह करणकाल के पूर्व भी—यथाप्रबृत्त आदि करण प्रारम्भ करने
के पहले भी अन्तमुहूर्त काल पर्यंत शुभलेश्या वाला (तेजो, पद्म और
शुक्ल लेश्या में से कोई एक शुभ लेश्या युक्त) होता है और परावर्तमान
पुष्पप्रकृतियों को बांधता है। यह उपशमसम्यक्त्व चारों गति के जीव
उत्पन्न कर सकते हैं। यदि तिर्यच और मनुष्य प्रथमसम्यक्त्व उत्पन्न
करते हैं तो वे देवगतिप्रायोग्य देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर,
वैक्रियअंगोपांग, प्रथमसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहयो-

गति, ब्रह्मदशक, सातावेदनीय, उच्चगोत्र रूप परावर्तमान इकीस प्रकृतियाँ बांधते हैं और यदि नारक और देव हैं तो वे मनुष्यगति-प्रायोग्य मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, प्रथमसहनन, प्रथमसंस्थान, औदारिकद्विक, परावात, उच्छ्रवास, प्रशस्तविहायोगति, ब्रह्मदशक, सातावेदनीय और उच्चगोत्र रूप परावर्तमान वाईस प्रकृतियों को बांधते हैं। परन्तु इतना विशेष है कि मात्र सातवीं नरकपृथ्वी का नारक भव-स्वभाव में ही पहले और दूसरे गुणस्थान में तिर्यक्तिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करने वाला होने से प्रथमसम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए भी अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त तिर्यक्तिप्रायोग्य प्रकृतियों का ही बंध करता है। यानि वह तिर्यक्तिद्विक और नोचगोत्र कर्म का बंध करता है। इनके सिवाय शेष प्रकृतियाँ जो पूर्व में बताई हैं, उन्हीं की बांधिता है।

उत्तरोत्तर समय में अनन्तगुण विशुद्धि से बढ़ता हुआ शुभ अध्यव-साय वाला चारों गतियों में से किसी भी गति का जीव हो सकता है तथा अशुभप्रकृतियों के अनुभाग को अनुक्रम से अनन्तगुण हीन करता हुआ और पुण्यप्रकृतियों के रस को अनन्तगुण बढ़ाता हुआ नथा आयु-कर्म के सिवाय सातों कर्मों की अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति की सत्ता जिसने रखी है ऐसा और आयुकर्म को नहीं बांधता।^१ पूर्व-पूर्व स्थितिबंध की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के स्थितिबंध को पल्योपम के संरूपातबैं भाग कर्म-कर्म करता हुआ, यानि एक स्थितिबंध जब पूर्ण हो तब नया पल्योपम का संरूपातबैं भाग न्यून बांधता—करता, बघ्य-मान अशुभ प्रकृतियों के द्विश्थानक रस को बांधता और उसको भी प्रतिसमय अनन्तगुण हीन अर्थात् अनन्तबैं भाग करता और बंधतो हुई शुभप्रकृतियों के रस को चतुर्थानक बांधता हुआ और उसे भी प्रति-समय अनन्तगुणा बढ़ाता हुआ तथा मैति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और

^१ अतिविशुद्धपरिणाम वाला जीव आयु को नहीं बांधता है। आयुकर्म का बंध मध्यम परिणामों से होता है, इसीलिये उसका नियंत्रण किया जाता है।

विभंगज्ञान में से किसी भी साकारोपयोग—ज्ञानोपयोग में वर्तमान जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य है और वैसा जीव उसे प्राप्त करने के लिये तीन करण करता है। जिनके नाम आगे को गाथा में बतलाते हैं।

करणात्रय के नाम

पदम् अहापवत्तं बीयं तु नियट्टी तद्यमणियट्टी ।

अंतोमुहूत्तियाहं उपसमअङ्गं च लहइ कमा ॥५॥

शब्दार्थ—पदम्—प्रथम-पहला, अहापवत्तं—यथाप्रवृत्तकरण, बीयं—द्वितीय-दूसरा, तु—और, नियट्टी—निवृत्ति-अपूर्वकरण, तद्यमणियट्टी—तृतीय-तीसरा अनिवृत्तिकरण, अंतोमुहूत्तियाहं—अंतर्मुहूर्तकाल वाले, उपसमअङ्गं—उपशमकाल प्रमाण (अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण) च—और, लहइ प्राप्त करता है, कमा—क्रम में।

गाथार्थ—पहला यथाप्रवृत्त, दूसरा अपूर्वकरण और तीसरा अनिवृत्तिकरण है। ये प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त काल वाले हैं। तत्पदचातुर उपशमकालप्रमाण वाले (अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण वाले) उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व जीव तीन करण करता है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनों करणों में से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण का है। इस प्रकार अनुक्रम से तीनों करणों को करने के पश्चात् जीव उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है और उस प्राप्त उपशम-सम्यक्त्व का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

अब ग्रन्थकार आचार्य तीनों करणों का लक्षण—स्वरूप बतलाते हैं।
तीन करणों का स्वरूप

आइल्लेसु दोसुं जाहन्नउक्कोसिया भवे सोही ।

जं पद्मसमयं अज्ञावसाया लोगा असंखेज्जा ॥६॥

शब्दार्थ—आइल्लेसु—आदि के, दोसुं—दो करणों में, जाहन्नउक्कोसिया—जघन्य और उत्ताष्ठ, भवे—होती है, सोही—विशुद्धि, जं—क्योंकि, पद्म-

समर्थ—प्रत्येक समय, असंख्यसाधा अध्यवसाय, लोगों असंख्यात् लोकाकाशप्रदेश प्रमाण।

गाथार्थ—आदि के दो करणों में जघन्य और उत्कृष्ट इस तरह दो प्रकार की विशुद्धि होती है। क्योंकि प्रत्येक समय में असंख्यात् लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसाय है।

विशेषार्थ—करण अर्थात् आत्मपरिणाम यानि कि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में अनन्त-अनन्तगुण बढ़ते हुए आत्म परिणाम।

आदि के दो करणों—यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण से साथ चूँ हुए जीवों में अध्यवसायों का तारतम्य होता है। यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के प्रथम समय को समकाल में स्पर्श करने वाले जीवों में उस-उस करण की अपेक्षा कितने ही जघन्यपरिणामी, कितने ही मध्यमपरिणामी, और कितने ही उत्कृष्टपरिणामी जीव होते हैं। इसी-लिये आचार्य ने संकेत किया है कि आदि के यथाप्रवृत्त और अपूर्व इन दो करणों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विशुद्धि होती है। क्योंकि इन दो करणों में अनेक जीवों की अपेक्षा प्रतिसमय तरतमभाव से असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसाय-विशुद्धि के स्थान हैं और वे भी पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में प्रवर्धमान होते हैं। जैसे कि—

यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में तीनों काल के जीवों की अपेक्षा तरतमभाव से असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण विशुद्धि के स्थान होते हैं। दूसरे समय में क्षयोपशम की विचित्रता से कुछ अधिक विशुद्धि के स्थान होते हैं, तीसरे समय में पूर्व से कुछ अधिक होते हैं। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। यथाप्रवृत्त-करण के चरम समय से अपूर्वकरण के प्रथम समय में अधिक विशुद्धि के स्थान होते हैं, दूसरे समय में उनकी अपेक्षा अधिक, इस तरह अपूर्वकरण के भी चरम समय तक जानना चाहिये।

इन करणों को स्पर्श करने वाले तीनों काल के जीव यद्यपि अनन्त हैं, परन्तु बहुत से जीव समान अध्यवसाय-विशुद्धि वाले होने से अध्यवसाय-विशुद्धि के स्थानों की संख्या असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण ही

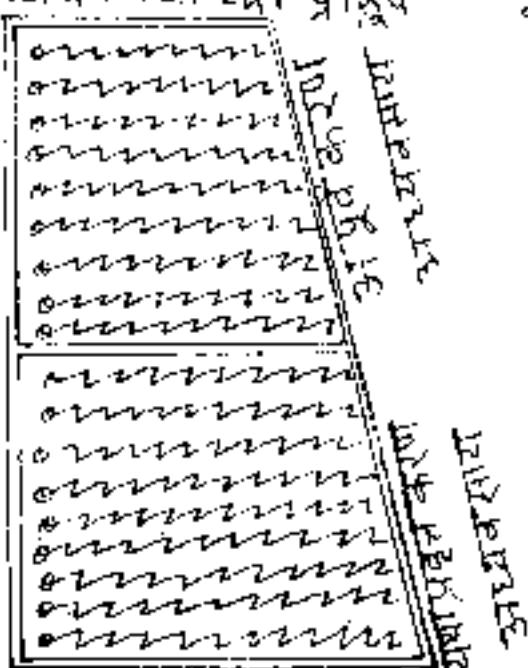
होती है, इससे अधिक नहीं। इन दोनों करणों में पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में मोहनीयकर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण अध्यवसायों की संख्या बढ़ती जाती है। जिससे यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के अध्यवसायों की स्थापना की जाये तो विषम चतुरस्लक्ष्मन की व्याप्ति करते हैं।

अनिवृत्तिकरण में तो साथ में च हुए जीव समान परिणाम वाले ही होते हैं^१। यानि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में जो जीव आरूढ़ हुए थे, जो आरूढ़ हो रहे हैं और आरोहण करेंगे उनके एक-जैसे महश परिणाम होते हैं। साथ में आरोहण किए हुए जीवों में अपूर्वकरण की तरह अध्यवसायों की तरतमता नहीं होती है।^२ इसीलिये अनिवृत्तिकरण के अध्यवसाय मुक्तावलि संस्थित जानना चाहिये।^३

१ फिर भी पूर्व-पूर्व गमा से उत्तरोत्तर गमा में अनन्तगुणी विशुद्धि तो होती ही है।

२ यथाप्रवृत्त आदि जीवों करणों के अध्यवगायों का प्रारूप इस प्रकार है—

यथाप्र. अपूर्णकरण के
अध्यवसायों का प्रारूप



अनिवृत्तिकरण के अध्यवसायों
का प्रारूप



अब इसी बात को विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

पइसमयमणन्तगुणा सोही उड्ढासुही तिरिच्छा उ।

उड्डाणा जीवाणं तदप् उड्डासुही एका ॥७॥

शब्दार्थ— पइसमयमणन्तगुणा—प्रतिसमयजनन्तगुण, सोही—विशुद्धि उड्डासुही—ऊर्ध्वमुखी, तिरिच्छा—तिर्यग्मुखी, उ—और, उड्डाणा—पट्टानपतित, जीवाणं—जीवों की, तदप् नीमरे अनिवृत्तिकरण में, उड्डासुही—ऊर्ध्वमुखी, एका—एकमात्र।

गायार्थ— प्रति समय जीवों की ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि अनन्तगुण है और तिर्यग्मुखी विशुद्धि पट्टस्थानपतित है। तीसरे अनिवृत्तिकरण में एकमात्र ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि ही होती है।

विशेषार्थ— पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय की विशुद्धि के विचार को ऊर्ध्वमुखीविशुद्धि और एक ही समय की विशुद्धि को—विशुद्धि के तारतम्य के विचार को तिर्यग्मुखीविशुद्धि कहते हैं। ऊर्ध्वमुखीविशुद्धि तो तीनों करणों में होती है और तिर्यग्मुखीविशुद्धि मात्र प्रारम्भ के दो करणों यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण में ही होती है। तीनों करणों में पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय की ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि अनन्त-अनन्त गुणी जानना चाहिये। अर्थात् प्रथम समय में जो विशुद्धि है, उसकी अपेक्षा द्वितीय समय में अनन्तगुणी विशुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा तो सरे समय में अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। इस तरह यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये।

आदि के दो करणों की तिर्यग्मुखी विशुद्धि पट्टस्थान पतित होनी है। अर्थात्— यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में साथ ही आरुक द्वाएँ जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा जो अस्त्रयात लोकावाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान हैं, उनमें का किसी जीव का विशुद्धि स्थान किसी

जीव के विशुद्धिस्थान की अपेक्षा अनन्तभाग अधिक होता है, किसी का असंख्यातभाग अधिक, किसी का संख्यातभाग अधिक, किसी का संख्यातगुण अधिक, किसी का असंख्यातगुण अधिक और किसी का अनन्तगुण अधिक होता है। इसी तरह दूसरे, तीसरे आदि अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये।

इस तरह यथाप्रवृत्त तथा अपूर्वकरण में साथ ही आरूढ़ हुए जीवों में विशुद्धि का तारतम्य है।

अनिवृत्तिकरण में इस तरह का तारतम्य नहीं है। क्योंकि अनिवृत्तिकरण में तो प्रत्येक समय साथ आरूढ़ हुए समस्त जीवों के विशुद्धिस्थान—अध्यवसाय समान-सदृश कुल्य होते हैं। यानि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में जो जीव थे, वे और होंगे, उन सबका एक ही अध्यवसायस्थान—समान विशुद्धि होती है। दूसरे समय में जो जीव थे, वे भी और होंगे, उन जीवों की एक ही अध्यवसायस्थान होता है। मात्र प्रथम समय के अध्यवसायों की विशुद्धि की अपेक्षा वह अनन्त गुणी है। इस तरह से अनिवृत्तिकरण के चरमसमयपर्यन्त जानना चाहिये। इसी कारण अनिवृत्तिकरण में ऊर्ध्वमुखी एक ही विशुद्धि होती है, परन्तु तिर्यग्मुखी विशुद्धि नहीं होती है।

पूर्वोक्त कारण से यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के अध्यवसायों की स्थापना विषमचतुरक्ष और अनिवृत्तिकरण के अध्यवसायों की स्थापना मुक्तावली संस्थित बतलाई है।

अब यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि का तारतम्य बतलाते हैं—

यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि

गंतुं संखेजजंसं अहापवत्तस्स होण जा सोही ।

तीए पढ़मे समये अणन्तगुणिया उ उक्कोसा ॥८॥

एवं एकान्तरिया हेद्धुवरि जाव हीणपज्जन्ते ।
ततो उक्कोसाओ उवरुवरि होइ अनन्तगुणा ॥६॥

शब्दार्थ—गातुं—जाने पर, संखेजंस—संख्यातवेभागपर्यन्त, अहम्-पर्यन्तस्स—यथाप्रवृत्तकरण के, हीण—हीम, जा—जो, सोही—विशुद्धि, तोट—उसके, पहुँचे समये—प्रथम समय में, अनन्तगुणिया—अनन्तगुणित, उ—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट ।

एवं इसी प्रकार एकान्तरिया एकान्तरित, हेद्धुवरि—नीचे और ऊपर, जाव—यावत्, हीणपज्जन्ते—जवान्तव्यवंत, ततो—उसके बाद उक्कोसाओ उत्कृष्ट, उवरुवरि—ऊपर-ऊपर, होइ—होती है, अनन्तगुणा—अनन्तगुण ।

गाथार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के संख्यातवेभाग पर्यन्त जाने पर उसके चरम समय में जो जघन्य विशुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है ।

इसी प्रकार संख्यातवेभाग से नीचे और ऊपर एकान्तरित विशुद्धि वहाँ तक जानना चाहिये यावत् जघन्य विशुद्धि का अन्तिम स्थान प्राप्त हो, उसके बाद ऊपर-ऊपर उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है ।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में तरतम भाव से विशुद्धि के जो असंख्य स्थान कहे हैं, उनमें की जो सर्वजघन्य विशुद्धि है, जिसका आगे कथन किया जायेगा, उसकी अपेक्षा अल्प होती है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् यथाप्रवृत्तकरण का संख्यातवां भाव जाये और उस संख्यातवेभाग के अन्त में जो जघन्य विशुद्धि है, उससे प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है । उससे संख्यातवेभाग

के अनन्तरवर्ती समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है। यानि जिस समय की जघन्यविशुद्धि की अपेक्षा प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी कही है, उसके बाद के समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे (दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से) जिस समय से दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी कही है, उसके बाद के समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है। यानि संख्यात्वे भाग के बाद के दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है। इस प्रकार से ऊपर नीचे एक-एक समय की जघन्य उत्कृष्ट अनन्तगुण विशुद्धि कहते हुए वहाँ तक कहना चाहिये यावत् यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि यथाप्रवृत्तकरण के संख्यात्वे भाग के बाद से लेकर नीचे और ऊपर एक समय की उत्कृष्ट और एक समय की जघन्य, इस तरह एकान्तरित एक-एक अन्तर से अनन्तगुण विशुद्धि वहाँ तक कहना चाहिये यावत् जघन्यविशुद्धि का अन्तिम स्थान—यथाप्रवृत्तकरण का चरम स्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार से एकान्तरित जघन्य विशुद्धि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। अब यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम संख्यात्वे भाग में कि जिसमें जघन्य विशुद्धि कही गई है किन्तु अभी उत्कृष्ट विशुद्धि का निर्देश नहीं किया है, उसको भी उत्तरोत्तर एक दूसरे से अनन्तगुणी जानना चाहिये। यानि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की जघन्य विशुद्धि से उसो करण के अन्तिम संख्यात्वे भाग के प्रथम समय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह चरम समय पर्यन्त उत्कृष्ट विशुद्धि कहना चाहिये। सुगमता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

प्रथम प्रवृत्तकरण विशुद्धि

प्रथम समय की जब्तन्य विशुद्धि सर्वस्तोक उससे
दूसरे " " " अनन्तभूत ॥

संख्यात्मक भाग

‘इस प्रकार की’—‘रेखायुक्त समयस्थानों में परस्पराक्रान्ति प्ररूपणा करना चाहिये। जैसे चीथे जघन्यस्थान की विशुद्धि कहकर प्रथम स्थान को उत्कृष्टविशुद्धि फिर प्रथम स्थान की उत्कृष्ट विशुद्धि से पांचवें स्थान की जघन्य विशुद्धि कहना चाहिये। अर्थात् एक की उत्कृष्ट दूसरे की जघन्य इस क्रम से शेष संख्यात्वें भाग के उत्कृष्ट स्थानों को छोड़कर कहना चाहिये।

इस प्रकार से यथाप्रवृत्तकरण का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त दूसरे करण अपूर्वकरण की स्वरूप-व्याख्या करते हैं।
अपूर्वकरण की विशुद्धि स्वरूप व्याख्या

जा उष्कोसा पढ़मे तीसेणन्ता जहण्णिया बीए।

करणे तीए जेद्धा एवं जा सब्बकरणंपि ॥१०॥

शब्दार्थ—जा—जो, उष्कोसा—उत्कृष्ट, पढ़मे—प्रथम समय में, तीसेणन्ता—उससे अनन्तगुण, जहण्णिया—जघन्य, बीए—दूसरे समय की, करणे—करण में, तीए—उसी के, जेद्धा—उत्कृष्ट, एवं—इस प्रकार, जा—पर्यन्त, सब्बकरणंपि—रासी करणों में भी।

मार्यार्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो उत्कृष्ट विशुद्धि है उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे उसी (दूसरे) समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। इसी प्रकार सम्पूर्ण करण पर्यन्त जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में जो उत्कृष्ट विशुद्धि होती है, उससे अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। उससे उसी प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे तीसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे भी उसी तीसरे समय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुण होती है। इस प्रकार प्रत्येक समय में जघन्य-उत्कृष्ट विशुद्धि वहाँ तक कहना चाहिये थावत् अपूर्वकरण सम्पूर्ण हो।

इस प्रकार से अपूर्वकरण की विशुद्धि का क्रम जानना चाहते हों और ठहराव करने के बाद एकान्तरित जघन्य-उत्कृष्ट विशुद्धि कही है और इस इसे करण में तो पहले ही समय में जघन्य, उसी समय की उत्कृष्ट इस तरह एक-एक समय की जघन्य-उत्कृष्ट विशुद्धि अन्ततःगुण कही है। सुमाता से सभक्षणे के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

अपूर्वकरण विशुद्धि

	१ प्रथम समय की जघन्यविशुद्धि सर्वस्तोक उससे —	१ प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अन्ततःगुण उससे
२ द्वासरे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
३ तीसरे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
४ चौथे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
५ पाँचवे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
६ छठे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
७ सातवे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
८ आठवे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
९ नौवे	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥	॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

यद्यपि अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि सर्वस्तोक है, लेकिन वह भी अपूर्वकरण ने द्वितीयकरण विशुद्धि से अनन्तगुणी है। यहाँ सभी स्थान परस्पराकान्त हैं अतः एक का जघन्य स्थान दूसरे का उत्कृष्ट स्थान, दूसरे का उत्कृष्ट स्थान तीसरे का जघन्य स्थान इत्यादि इस क्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि कहना चाहिये। यह क्रम चरम उत्कृष्ट स्थान तक समझना।

अब इस कारण में और जो दूसरी विशेषताएँ होती हैं—उनको स्पष्ट करते हैं—

अपूर्वकरणसमग्रं कुण्ड अपुञ्जे इमे उ चत्तारि ।

ठितिघार्यं रसधार्यं गुणसेद्धीं बंधगद्धा य ॥११॥

शब्दार्थ—अपूर्वकरणसमग्रं—अपूर्वकरण के साथ ही, कुण्ड—होती है, अपुञ्जे—अपूर्व, इमे—वह, उ—ही, चत्तारि—चार, ठितिघार्य—स्थितिघात, रसधार्य—रसघात, गुणसेद्धी—गुणशेणि, बंधगद्धा—बंधकाद्धा, स्थितिबंध, य—और।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के साथ ही स्थितिघात, रसघात, गुणशेणि और स्थितिबंध ये चार अपूर्व बातें होती हैं।

विशेषार्थ—जिस समय जीव अपूर्वकरण में प्रवेश करता है, उसी समय से लेकर जिनका स्वरूप आगे कहा जायेगा और जिनको भूत काल में किसी समय किया नहीं, इसीलिये अपूर्व ऐसी ये चार बातें—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुणशेणि और ४ बंधकाद्धा—अपूर्व स्थितिबंध—होती हैं।

इन चारों की विशद व्याख्या अनुक्रम से आगे करते हैं। उनमें से स्थितिघात का स्वरूप इस प्रकार है—

स्थितिधात

उक्कोसेण बहुसागराण इयरेण पल्लसंखंसं ।
ठितिअग्नाओ घायइ अन्तभुहृत्तोण ठितिखंड ॥१२॥

शब्दार्थ—उक्कोसेण—उत्कृष्ट से, बहुसागराण—अनेक सागरोपम प्रमाण, इयरेण—इतर-जघन्य से, पल्लसंखंसं—एव्योपम के संख्यात्वे भाग प्रमाण, ठितिअग्नाओ—स्थिति के अग्रभाग से, घायइ—घात होता है, अन्त-भुहृत्तोण—अन्तभुहृत्तं काल में, ठितिखंड—स्थितिखण्ड का ।

गाथार्थ—स्थिति के अग्रभाग से उत्कृष्ट से अनेक सागरोपम प्रमाण और इतर-जघन्य से पल्लयोपम के संख्यात्वे भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तभुहृत्तं काल में घात होता है ।

विशेषार्थ—सत्ता में वर्तमान स्थिति के अग्रभाग से—अन्त के भाग से—उत्कृष्ट से अनेक सागरोपम प्रमाण और जघन्य से पल्लयोपम के संख्यात्वे भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तभुहृत्तं काल में घात होता है और घात होकर उसके दलिक के नीचे जिस स्थिति का घात नहीं होता है, वहाँ प्रक्षेप किया जाता है । तत्पश्चात् पुनः पल्लयोपम के संख्यात्वे भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तभुहृत्तं काल में घात होता है और उसके दलिक का पहले कहे अनुसार नीचे प्रक्षेप किया जाता है । इस प्रकार से अपूर्वकरण के काल में अनेक—हजारों स्थितिधात होते हैं । जिससे अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितनी स्थिति की सत्ता होती है, उससे उसके चरम समय में संख्यात्वे भाग की सत्ता रह जाती है ।

स्थितिधात अर्थात् जितनी स्थिति का घात करना है उतनी स्थिति में—काल में भोगने योग्य दलिकों को वहाँ से हटाकर भूमि को साफ करना । यानि निषेक रचना के समय जो दलिक उन स्थानों में भोगने योग्य हुए थे उन दलिकों को अन्य स्थान के दलिकों के साथ

अर्थात् जिन स्थानों में उन दलिकों का प्रक्षेप किया जाता है, उनके साथ भोगने योग्य किया जाता ।

अनेक सामारोपमप्रभाण या पल्योपम के सम्बन्धात्वे भाग प्रभाण स्थिति का बात होता है, मानि उतनी स्थिति में भोगे जायें उतने अदिकों को इहाँ से हटाकर उतनी भूमि को साक किया जाना, जिससे उतनी स्थिति के दलिक अन्य स्थिति के साथ भोगे जायें वैसे किया जाना । निषेकरचना के समय उन स्थानों में दलिक स्थापित किये गये थे, किन्तु स्थितिघात के समय मात्र अन्तमुहूर्त में ही ऊपर कही उतनी स्थिति में स्थापित दलिक अन्य स्थितियों में या जिनका स्थितिघात नहीं होना है, उनके साथ भोगे जा सकें, उस रूप में किया जाना । जिससे उतनी स्थिति में भोगने योग्य दलिक नहीं रहते हैं । इसी कारण स्थिति का बात हुआ, स्थिति कम हुई, यह कहा जाता है ।

इस प्रकार से स्थितिघात का स्वरूप जानना चाहिए । अब रसघात का स्वरूप कहते हैं ।

रसघात

असुभाणंतभुहृतेण हण्ड रसकंडगं अणंतंसं ।

किरणे ठितिखंडाणं तंमि उ रसकंडगसहस्सा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—असुभाणंतभुहृतेण—अशुभ प्रकृतियों के अन्तमुहूर्तकाल में, **हण्ड—**धात करता है, **रसकंडग—**रसकंडक का, **अणंतंस—**अनन्त भाग रूप, **किरणे—**उत्कीर्ण करने में प्रवृत्त होकर, **ठितिखंडाण—**एक स्थिति घात काल में, **तंमि उ—**उतने में, **रसकंडगसहस्सा—**हजारों रस कंडक ।

गाथार्थ—उत्कीर्ण करने में प्रवृत्त होकर स्थितिघात करते हुए अशुभ प्रकृतियों के अनन्तभाग रूप सत्तागत रसकंडक का

अन्तमुहूर्त काल में घात करता है। एक स्थितिधातकाल में हजारों रसकंडकों का घात होता है।

विशेषार्थ—गाथा में कर्मप्रकृतियों के अनुभाग-रस के घात होने की प्रतिक्रिया का निर्देश किया है। रसघात यानि बंध के समय जीव ने काषायिक अध्यवसायों द्वारा कर्म पुद्गलों में जो फलदानशक्ति उत्पन्न की थी, उस शक्ति को कम करना।

अशुभ प्रकृतियों का जो रस सत्ता में है, उसके अनन्तवें भाग को छोड़कर शेष समस्त रस को अन्तमुहूर्त काल में नाश करता है। उसके बाद पुनः पूर्व में शेष रहे अनन्तवें भाग के अनन्तवें भाग को छोड़कर शेष रस को अन्तमुहूर्त काल में नाश करता है। इस प्रकार से एक-एक स्थितिधात जितने काल में हजारों रसघात होते हैं। हजारों स्थितिधातों द्वारा अपूर्वकरण पूर्ण होता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि अपूर्वकरण के काल में हजारों बार स्थितिधात होता है और एक स्थितिधात जितने काल में हजारों बार रसघात हो जाता है। यानि विशुद्ध परिणाम के योग से आत्मा के गुणों की बंध के समय उत्पन्न आवारक शक्ति को विशुद्धि के प्रमाण में कम करता है। सत्तागत अशुभ प्रकृतियों के रस के अनन्तवें भाग को छोड़कर अनन्तवें भाग रूप एक खण्ड को अन्तमुहूर्त काल में घात करता है। जिससे कि उस खण्ड में के अमुक प्रमाण रस को पहले समय में, अमुक प्रमाण रस को दूसरे समय में, इस प्रकार क्षय करते-करते चरम समय में उस रसखण्ड का पूर्णतया नाश होता है। उसके बाद पहले जो अनन्तवर्ण भाग छोड़ा था उसका अनन्तवर्ण भाग छोड़कर अनन्त भाग को उपर्युक्त रीति से अन्तमुहूर्त काल में घात करता है। इस प्रकार रस का घात होने से उत्तरोत्तर अल्प-अल्प रस वाले दलिक बंध को प्राप्त होते हैं। ऐसा होने से अध्यवसायों की निर्मलता भी बढ़ती जाती है।

इस प्रकार से रसधात का स्वरूप जानना चाहिए। अब गुणश्रेणि का स्वरूप बतलाते हैं।

गुणश्रेणि

धाइय ठिईओ दलियं धेतुं धेतुं असंख्यगुणणाए ।

साहियदुकरणकालं उदयाऽ रएइ गुणसेद्धि ॥१४॥

ज्ञानार्थ—धाइय—धात किये गये, ठिईओ वलियो—स्थिति के दलिकों को, 'धेतुं-धेतुं'—ग्रहण कर करके, असंख्यगुणणाए—असंख्यातगुण-असंख्यातगुण रूप में, साहियदुकरणकालं—दोनों करणों की अपेक्षा से अधिक काल में, उदयाऽ—उदय से प्रारम्भ कर, रएइ—रचना होती है, गुणसेद्धि—गुणश्रेणि की।

गाथार्थ—धात किये गये स्थिति के दलिकों में से दलिकों को ग्रहण कर-करके उदय से प्रारम्भ कर पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण रूप से दोनों करणों (अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण) की अपेक्षा अधिक काल में जो दल-रचना होती है, वह गुणश्रेणि है।

विशेषार्थ—जिस स्थिति का धात किया गया है, उसमें से दलिकों को ग्रहण करके उन दलिकों को उदयसमय से प्रारम्भ कर प्रत्येक समय में ऊपर-ऊपर के प्रत्येक स्थान में असंख्य-असंख्य गुण बढ़ते अर्थात् पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात-असंख्यात गुणकार रूप से स्थापित करना। जैसे कि उदय समय में स्तोक स्थापित करना, दूसरे समय में असंख्यगुण रूप से स्थापित करना, तीसरे समय में उससे भी असंख्यातगुण अधिक स्थापित करना, इस प्रकार असंख्यात-असंख्यात गुणकार रूप से जो दलरचना होती है, उसे गुणश्रेणि कहते हैं और इस प्रकार की दलरचना अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक समयों में होती है।

इस तरह जिसका स्थितिघात होता है, उसमें से पहले समय में जो दलिक उठाये जाते हैं उनकी रचना का क्रम उक्त प्रकार है। दूसरे समय में पहले समय की अपेक्षा असंख्यातगुण दलिक लिये जाते हैं और उदयसमय से प्रारम्भ कर पूर्वोक्त क्रम में स्थापित किये जाते हैं। इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण अधिक लिये जाते हैं और उनको भी उदय समय से प्रारम्भ कर पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित किये जाते हैं। इस तरह गुणश्चेणि क्रियाकाल के चरमसमय पर्यन्त जिसका स्थितिघात होता है उसमें से दलिकों को ग्रहण करके उदय समय से प्रारम्भ कर स्थापित किये जाते हैं। तथा—

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयों को अनुक्रम से अनुभव करते-करते धोण होने से गुणश्चेणि द्वारा होने वाला दलिकनिष्ठेण अवशिष्ट समयों में होता है किन्तु समय मर्यादा से ऊपर नहीं बढ़ता है। यानि कि गुणश्चेणि क्रियाकाल के प्रथम समय में—अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितने स्थानों में दल रचना हुई थी, उससे उसके बाद के—दूसरे समय में एक कम स्थान में दलरचना होती है, तीसरे समय में दो कम स्थान में दलरचना होती है, इस तरह जैसे-जैसे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समय भोगते-भोगते झामड़ा कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे कम-कम स्थानों में दल रचना होती है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो अन्तिम स्थान था, वही गुणश्चेणि क्रिया पूर्ण होने तक अन्तिम स्थान के रूप में रहता है किन्तु दल रचना आगे नहीं बढ़ती है।

इस प्रकार से गुणश्चेणि का स्वरूप जानना चाहिए। अब अपूर्व-स्थितिबंध का स्वरूप कहते हैं।

अपूर्वस्थितिबंध

करणाईए अपुव्वो जो बंधो सो न होइ जा अन्नो ।

बंधगद्वा सा तुलिगा उ ठिकंडगद्वाए ॥१५॥

शब्दार्थ—करणाईए—करण के आदि में, अपुव्वो, अपूर्वो, जो बंधों जो बंध, सो न होइ—वह नहीं हो जा अन्नो—जब तक अन्य, बंधगद्वा—बंधकाद्वा, सा—वह, तुलिगा—तुल्य, उ और, ठिकंडगद्वाए—स्थिति-कंडक काल (स्थितिधात काल) ।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के आदि में (प्रथम समय में) जो बंध होता है, उसकी अपेक्षा अन्य दूसरा स्थितिबंध नहीं हो वहाँ तक के काल को बंधकाद्वा कहने हैं, वह बंधकाद्वास्थितिधात काल तुल्य है ।

विशेषार्थ—एक स्थितिबंध के काल को बंधकाद्वा कहते हैं। अपूर्व-करण के प्रथम समय में जो स्थितिबंध प्रारम्भ हुआ है, वही स्थिति-बंध जब तक रहे, मग्या प्रारम्भ न हो, वहाँ तक के काल को बंधकाद्वा-बंधकाल कहते हैं और वह स्थितिधात के समान है। स्थितिधात और अपूर्व स्थितिबंध एक साथ ही प्रारम्भ होते हैं और साथ ही पूर्ण होते हैं। इसके तात्पर्य यह हुआ कि एक स्थितिधात करते जितना काल होता है, उतना ही काल एक स्थितिबंध करते हुए भी होता है, तत्पश्चात् नवीन बंध प्रारम्भ होता है ।

ऐसा करने का जो परिणाम होता है, उसका उपसंहार करते हुए अब अनिवृत्तिकरण का स्वरूप प्रतिपादन करना प्रारम्भ करते हैं ।

अपूर्वकरण का उपसंहार : अनिवृत्तिकरण का निरूपण

जा करणाईए ठिई करणन्ते तीइ होइ संखंसो ।

अणिअटिकरणमओ मुत्तावलिसंठियं कुणइ ॥१६॥

शब्दार्थ—जा—जो, करणाईए—अपूर्वकरण के प्रारम्भ में, ठिई—स्थिति, करणंते—करण के अन्त में, हीइ—उसका, होइ—होता है, संखेज्ञो—संख्यात्वां भाग, अणिअट्टिकरणमयो—इसके बाद अनिवृत्तिकरण, मुक्तावलिसंठिये—मुक्तावली के आकार रूप, कुणइ—करता है।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के प्रारम्भ में जो स्थिति की सत्ता थी, उसका संख्यात्वां भाग करण के अन्त में शेष रहता है। उसके बाद मुक्तावली के आकार रूप अनिवृत्तिकरण को करता है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितनी स्थिति की सत्ता थी, उसमें से हजारों स्थितिघातों के हारा क्रमशः क्षीण होते-होते अपूर्वकरण के चरम समय में संख्यात्वे भाग जितनी ही अवशिष्ट रहती है।

इस प्रकार से अपूर्वकरण में स्थितिघात आदि चार पदार्थ प्रवर्त्मान होते हैं और इनके पश्चात् अनिवृत्तिकरण प्रारम्भ होता है। जो पहले छोटा मोती उसके बाद क्रमशः उत्तरोत्तर पूर्व की अपेक्षा बड़ा इस तरह मुक्तावल के आकार का होता है। इसका कारण यह है कि अनिवृत्तिकरण में तिर्यग्मुखी विशुद्धि नहीं होती है, मात्र ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि ही होती है। जिसमें अनिवृत्तिकरण के किसी भी समय में एक साथ चौहुए सभी जीवों के एक समान परिणाम होते हैं और पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। इसी कारण यह करण मुक्तावली के आकार बाला बताया है।
तथा—

एवमनियट्टीकरणे ठितिघायाईणि होति चउरो वि ।

संखेज्ञसे सेसे पढमठिई अंतरं च भवे ॥१७॥

शब्दार्थ—एवमनियट्टीकरणे—इसी प्रकार से अनिवृत्तिकरण में, ठितिघायाईणि—स्थितिघातादि होति—होते हैं चउरो वि—चारों ही, संखेज्ञसे—संख्यात्वां भाग, सेसे—शेष रहने पर, पढमठिई—प्रथमस्थिति, अंतरं—अंतरकरण, च—जो, भवे—होता है।

गत्थार्थ— इसी प्रकार ने (अपूर्वकरण की तरह) अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिधात आदि चारों ही होते हैं और अनिवृत्तिकरण का संख्यात्वां भाग शेष रहने पर प्रथमस्थिति और अंतरकरण होता है।

विद्वाणी— अपूर्वकरण के अनुरूप ही अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिधात आदि चारों पदार्थ प्रवर्तित होते हैं। इस तरह स्थितिधात आदि होते-होते अनिवृत्तिकरण के संख्यात्व भाग बीत जायें और एक संख्यात्वां भाग शेष रहता है तब अनिवृत्तिकरण का जितना काल शेष रहता है, उतने ही काल में भोगी जो सह उसने मिथ्यात्म की स्थिति को रखकर ऊपर की स्थिति का अंतरकरण होता है।

अंतरकरण यानि अन्तमुहूर्त में भोगे जायें उतने स्थानों के दलिकों को वहाँ से हटाकर शुद्ध—दलिकरहित—भूमि का बनाना। यद्यपि शुद्धभूमि का नाम ही अंतरकरण है परन्तु वहाँ से दलिक हटे बिना शुद्धभूमि होती नहीं, इसलिये कारण में कार्य का आरोप करके अन्तरकरणक्रियाकाल को भी अंतरकरण कहा जाता है।

यह अंतरकरण—मिथ्यात्म के दलिक विहीन शुद्ध भूमि—प्रथमस्थिति के अन्तमुहूर्त से कुछ अधिक अन्तमुहूर्त प्रमाण है। अर्थात् प्रथमस्थिति का जितना काल है, उससे अंतरकरण—शुद्धभूमि—उपशम सम्यक्त्व का काल कुछ अधिक है। तथा—

अंतमुहूर्तियमेतादं दोषि निम्मवद् बंधगद्वाप् ।

गुणसेद्विसंख्यभागं अंतरकरणेण उक्तिरद् ॥१८॥

शब्दार्थ— अंतमुहूर्तियमेतादं—अन्तमुहूर्त प्रमाण, दोषि दोनों को, निम्मवद्—बनाता है, बंधगद्वाप्—बंधकाढ़ा, गुणसेद्विसंख्यभागं—गुणश्च शि के संख्यात्वें भाग जो, अंतरकरणेण—अन्तरकरण के साथ, उक्तिरद्—उल्कीण करता है।

गाथार्थ—दोनों को अन्तमुहूर्त प्रमाण करता है तथा (अंतर-करणक्रियाकाल) बंधकाढ़ा तुल्य है। अंतरकाल के साथ गुणशेषी के संख्यातवये भाग को भी उत्कोर्ण करता है।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति और अन्तरकरण ये दोनों अन्तमुहूर्त प्रमाण हैं और दोनों साथ ही होते हैं। मात्र प्रथमस्थिति के अन्तमुहूर्त से अन्तरकरण का अन्तमुहूर्त कुछ बड़ा है तथा अन्तरकरणक्रियाकाल अपूर्वस्थितिबंध के जितना है। अर्थात् जिस समय अपूर्वस्थितिबंध प्रारम्भ होता है उसी समय अंतरकरण—अतर ढालने की क्रिया—शुद्ध भूमि करने की क्रिया—अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थानों के दलिकों को हटाकर शुद्धभूमि करने की क्रिया प्रारम्भ होती है और अपूर्वस्थिति-बंध पूर्ण होने के साथ ही अन्तरकरणक्रिया भी पूर्ण होती है और उतनी भूमि शुद्ध होती है। इसीलिये यह कहा है कि अन्तरकरण अभिनव स्थितिबंध के काल प्रमाण काल में करता है। अन्तरकरण के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व का अन्य स्थितिबंध प्रारम्भ करता है, वह स्थितिबंध और अन्तरकरण एक साथ ही पूर्ण होते हैं तथा गुणशेषी के जो संख्यात भाग प्रथम और द्वितीय स्थिति के आश्रय से रहे हुए हैं, उनका एक संख्यातवां भाग अन्तरकरण के दलिकों के साथ ही नाश करता है और पूर्व में जो यह कहा गया है कि गुणशेषी द्वारा जितने स्थानों में दलरचना होती है वे स्थान अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दोनों के समुदित काल से अधिक हैं, यानि जब अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ करता है तब भी अन्तरकरण में और उससे ऊपर की द्वितीय स्थिति में दलरचना होती है। इसी कारण अन्तरकरण के साथ गुणशेषी द्वारा स्थापित किये गये दलिक भी उत्कीर्ण किये जाते हैं।

अब अन्तरकरण की विधि का विवेच करते हैं।

अन्तरकरण विधि

अंतरकरणस्स विहि धेत्तु धेत्तु ठिईउ मज्जाओ ।

दलियं पढमठिईए विच्छुभई तहा उदरिमाए ॥१६॥

शब्दार्थ—अन्तरकरणस्स—अन्तरकरण की विधि—विधि, घेत्ता-घेत्तु—ग्रहण कर करके, छिँड़वमज्जाओ स्थिति के मध्य में से, दलियो—दलिकों को, पढ़मठिईए—प्रथम स्थिति में, दिच्छुभई—प्रक्षिप्त करता है, तहा—तथा, उदरिमाए—ज्ञार की (द्वितीय) स्थिति में।

गाथार्थ—अन्तरकरण की विधि यह है कि (अन्तरकरण की) स्थिति के मध्य में से दलिकों को ग्रहण करके प्रथम स्थिति में और ऊपर की (द्वितीय) स्थिति में प्रक्षिप्त करता है।

विशेषार्थ—अन्तमुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण की स्थिति में से दलिकों को ग्रहण करके कुछ को प्रथम स्थिति में और कुछ को द्वितीय स्थिति में प्रक्षिप्त करता है। अधीत् कितने ही दलिकों को प्रथम स्थिति के कर्मणुओं के साथ भोगने योग्य और कितने ही दलिकों को द्वितीय स्थिति के कर्मणुओं के साथ भंगि जा सकने योग्य करता है। इस प्रकार से वहाँ तक जानना चाहिये कि अन्तरकरण के समस्त दलिकों का नाश हो और भूमिका शुद्ध हो। समस्त दलिकों का शय अन्तमुहूर्त काल में होता है और इस अन्तमुहूर्त का प्रमाण स्थितिघात के काल जितना है। तथा—

इगदुगआवलिसेसाइ णत्थि पढ़मा उदीरणागालो ।

पढ़मठिईए उदीरण बीयाओ एइ आगाला ॥२०॥

शब्दार्थ—इगदुगआवलिसेसाइ एक-दो आवलिका शेष रहे तब, णत्थि—नहीं होते हैं, पढ़मा—प्रथम स्थिति में, उदीरणागालो—उदीरणा और आगाल, पढ़मठिईए—प्रथमस्थिति में से, उदीरणा—उदीरणा, बीयाओ—द्वितीय स्थिति में से, एइ—आने हैं, आगाला आगाल।

गाथार्थ—प्रथमस्थिति की जब एक और दो आवलिका शेष रहे तब अनुक्रम से उदीरणा और आगाल नहीं होते हैं। प्रथम-स्थिति में से जो दलिक उदीरणा प्रयोग से उदय में आते हैं उसे उदीरणा और द्वितीय स्थिति में से जो उदय में आते हैं उसे आगाल कहते हैं।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति में वर्तमान आत्मा उदयावलिका से ऊपर के प्रथम स्थिति के दलिकों को उदीरणाप्रयोग से खीचकर जो उदयावलिका में प्रक्षिप्त करती है, उसे उदीरण कहते हैं और दूसरी स्थिति में से उदीरणाप्रयोग से खीचकर उदयावलिकागत दलिकों के साथ भोगे जायें—बैसे करने के हायावलिका में रहते हो आगाल हैं। अंतरकरणक्रिया शुल्ह होने के बाद प्रथम स्थिति में से जो दलिक खीचे जाते हैं वह उदीरण और द्वितीय स्थिति में से जो दलिक खीचे जाते हैं वह आगाल है। इस प्रकार विशेष बोध कराने के लिये पूर्वाचार्यों ने आगाल यह उदीरण का दूसरा नाम कहा है।

उदय और उदीरण द्वारा प्रथम स्थिति अनुभव करती आत्मा वहाँ तक जाती है यावत् प्रथम स्थिति की दो आवलिका शेष रहे तब यहाँ से आगाल बंद हो जाता है, मात्र उदीरण ही प्रवर्तित होती है और वह भी प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष न रहे, वही तक ही होती है। प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहने पर उदीरण भी बंद हो जाती है। शेष रही उस अंतिम आवलिका को उदय द्वारा ही भोग लेती है। तथा—

आवलिमेत्तं उदएण वेहउ ठाइ उवसमद्वाए ।

उवसमियं तत्थ भवे सामत्तं मोक्खदीयं जं ॥२१॥

शब्दार्थ—आवलिमेत्तं—आवलिका मात्र दलिक को, उदएण—उदय में, वेहउ—वेदन करके, ठाइ—स्थित होता है, उवसमद्वाए—उपशम-अद्वा ये, उवसमियं—औपशमिक, तत्थ—वहाँ, भवे—प्राप्त होता है, सामत्तं—सम्यक्त्व, मोक्खदीयं—मोक्ष का बीज, ज—जो।

गाथार्थ—आवलिकामात्र दलिक को उदय से वेदन कर जब उपशम-अद्वा में स्थित होता है, वहाँ जो मोक्ष का बीज है, वह औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—प्रथम स्थिति के अन्तिम आवलिका यत दलिक को जब जीव केवल उदय से अनुभव कर अन्तरकरण भैं—शुद्धभूमि में

उपशान्ताद्वा में प्रवेश करता है तो उसके पहले समय से ही वह उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है ।^१ जो मोक्ष का बीज रूप—कारण रूप है । क्योंकि सम्यक्त्व के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता है ।

उवरिमठिइ अनुभागं तं च तिहा कुणह चरिममिच्छुदए ।

देसधार्षिणं सम्म इयरेण मिच्छमीसाइ ॥२२॥

सम्मे थोबो मीसे असंखओ तस्ससंखओ सम्मे ।

पइसमयं इय खेदो अन्तमुहुत्ता उ विज्ञाओ ॥२३॥

शब्दार्थ—उवरिमठिइ—ऊपर वो (हिन्दी) स्थिति के, अनुभाग—अनुभागपत्र को, तं—उगको, च—जीः, तिहा लीन प्रकार वा, कुणह—करता है, चरिममिच्छुदए—चर्गम समय में भिद्धात्व के उदय में, देशधार्षिण—देशधार्ति, सम्म—सम्यक्त्वमोहनीय वो, इयरेण—इतर सर्वधार्ती, मिच्छमीसाइ—मिश्र और मिद्यात्व मोहनीय को ।

सम्मे—सम्यक्त्व में, थोबो—स्त्रीक-अल्प, मीसे—मिथ में, असंखओ—असंख्यात् गुण, तस्ससंखओ—उससे भी असंख्यात् गुण, सम्मे—सम्यक्त्व में, पइसमयं—प्रत्येक समय, इय—यह, खेदो—प्रक्षेप, अन्तमुहुत्ता—अन्तमुहूर्त, उ—अीर, विज्ञाओ—विध्यात्मकमण ।

१ अन्तरकरण में मिद्यात्व के द्विनिक नहीं होने से उसके पहले समय में ही उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है । जितने समय में भोगने योग्य दलिकों को हटाकर भूमि साफ की उतने समय को उपशान्ताद्वा अथवा अन्तरकरण कहा जाता है । उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने में मिद्यात्व प्रतिबंधक है । अन्तरकरण में उसके नहीं होने से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है । जब सक शुद्ध की हुई भूमि शुद्धभूमि रूप में रहती है, तब तक ही सम्यक्त्व भी रहता है ।

गाथार्थ— प्रथम स्थिति के चरम समय में मिथ्यात्व के उदय में रहते द्वितीय स्थिति के अनुभाग-रस को तीन प्रकार का करता है। उसमें सम्यक्त्वमोहनीय को देशधातीरसयुक्त और मिश्र तथा मिथ्यात्वमोहनीय को सर्वधातीरसयुक्त करता है।

प्रथम समय में सम्यक्त्वमोहनीय में स्तोक-अल्प और मिश्र-मोहनीय में असंख्यात्मगुण संक्रम होता है। उससे दूसरे समय में सम्यक्त्वमोहनीय में असंख्यात्मगुण, इस प्रकार प्रतिसमय अन्त-मुँहूर्त पर्यन्त संक्रम होता है और उसके बाद विद्यात्मसंक्रम होता है।

विशेषार्थ— प्रथम स्थिति के चरम समय में मिथ्यात्व के उदय में वर्तमान मिथ्याहृष्टि द्वितीयस्थितिसम्बन्धी कर्मपरमाणुओं के रस को विशुद्धि के बल से तीन प्रकार का करता है। अर्थात् द्वितीय स्थिति में वर्तमान मिथ्यात्वमोहनीय के दलिकों को रसभेद से तीन विभागों में विभाजित कर देता है। यह क्रिया अनिवृत्तिकरण के चरमसमय से—प्रथम स्थिति को अनुभव करते-करते एक समय शेष रहे, उस अन्तिम समय से—प्रारम्भ होती है।

वे तीन विभाग इस प्रकार हैं—शुद्ध, अर्धविशुद्ध और अशुद्ध। उनमें से शुद्ध पुञ्ज का नाम सम्यक्त्वमोहनीय है और उसका रस एक-स्थानक तथा मन्द द्विस्थानक एवं देशधाति है। अर्धविशुद्ध पुञ्ज का नाम मिश्रमोहनीय है और उसका रस मध्यम द्विस्थानक तथा सर्वधाती है। अशुद्ध पुञ्ज का नाम मिथ्यात्वमोहनीय है और उसका रस तीव्र द्विस्थानक, त्रिस्थानक, चतुर्स्थानक तथा सर्वधाति है।

जिस समय उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उस समय से लेकर मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल-दलिकों को मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय में पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात्म-असंख्यात्मगुणाकार रूप से संक्रमित करता है। यद्यपि मिथ्यात्वमोहनीय के रस को घटाकर—कम कर यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा मिश्र और सम्यक्त्व-

मोहनीय रूप करने की क्रिया अनिवृत्तिकरण के चरम समय से प्रारम्भ होती है, परन्तु गुणसंक्रम चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय से प्रारम्भ होता है और वह गुणसंक्रम इस प्रकार होता है—

जिस समय उपशम्यकल्प प्राप्त होता है, उसी समय मिथ्यात्व-मोहनीय के दलिक सम्यक्त्वमोहनीय में स्तोक-अल्प संक्रमित होते हैं और उसी समय मिश्रमोहनीय में असंख्यातगुण दलिक संक्रमित होते हैं। दूसरे समय में प्रथम समय मिश्रमोहनीय में संक्रमित हुए दलिकों से असंख्यातगुण सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित होते हैं, उनसे उसी समय मिश्रमोहनीय में असंख्यातगुण संक्रमित होते हैं, तीसरे समय में दूसरे समय मिश्रमोहनीय में संक्रमित हुए दलिकों से असंख्यातगुण सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित होते हैं, उनसे उसी समय मिश्रमोहनीय में असंख्यातगुण संक्रमित होते हैं। इस क्रम से प्रति समय सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय में मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसंक्रम अन्तमुहूर्त पर्यन्त होता है। इसके पश्चात् विध्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है। तथा—

गुणसंकमेण एसो संकमो होइ सम्ममीसेसु ।

अंतरकरणंमि ठिओ कुणइ जओ स पसथगुणो ॥२४॥

शब्दार्थ—गुणसंकमेण—गुण संक्रम द्वारा, एसो—यह, संकमो—संक्रम, होइ—होता है, सम्ममीसेसु—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय में, अंतरकरणंमि—अंतरकरण में, ठिओ—स्थित रहकर, कुणइ—करता है, जओ—क्योंकि, स—वह, पसथगुणो—प्रशस्त मुण गुणता ।

गाथार्थ—ऊपर कहे अनुसार संक्रम सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय में गुणसंक्रम द्वारा होता है और वह अंतरकरण में रहते हुए करता है। क्योंकि वहाँ वह (जीव) प्रशस्त गुण युक्त है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों का मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय में संक्रम गुणसंक्रम द्वारा होता है। क्योंकि अंतरकरण में

वर्तमान जीव (आत्मा) उपशमसम्यक्त्वरूप प्रशस्त गुणयुक्त है और प्रशस्त गुणयुक्त आत्मा संक्रम करती है। इसलिये अतरकरण में रही आत्मा के गुणसंक्रम^१ प्रवर्तित होता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वमोहनीय का उपशम करते अपूर्वकरण में गुण-संक्रम क्यों नहीं होता है?

उत्तर—उस समय मिथ्यात्वमोहनीय का बंध होता है। मिथ्यात्व-मोहनीय का जब तक उदय हो, तब तक बंध भी होता है। अनिवृत्तिकरण के चरण समय पर्यन्त उदय है, अतः बंध भी वहाँ तक है। बंधती हुई प्रकृतियों का गुणसंक्रम नहीं होता है और अतरकरण में उसका उदय नहीं है, इसलिये बंध भी नहीं है। जिसमें अतरकरण में मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसंक्रम होता है, यह कहा है। तथा—

गुणसंक्षेपसमग्रं तिष्णं थक्कंत आउवज्जाणं ।

मिच्छत्तस्स उ इगिदुगआवलिसेसाए पढमाए ॥२५॥

शब्दार्थ—गुणसंक्षेपसमग्रं गुणसंक्रम के साथ, तिष्णं-तीनों, थक्कंत रुक जाते हैं, आउवज्जाणं—आयुर्वेदित, मिच्छत्तस्स मिथ्यात्व इति, उ और, इगिदुगआवलिसेसाए—एक और दो आवलिका शेष रहने पर, पढमाए—प्रथम निष्ठिति में।

गाथार्थ—गुणसंक्रम के साथ ही आयुर्वेदित शेष कर्मों में तीनों (स्थितिधात, रसधात, गुणश्रेणि, और मिथ्यात्व की भी प्रथम स्थिति में एक और दो आवलिका शेष रहने पर पूर्वोक्त तीनों रुक जाते हैं।

१ अपूर्वकरण से प्रारम्भ कर अवध्यगान अणुभवकृतियों के दक्षिणे को गुर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में अमन्त्यान-अमन्त्यान गुणाकार रूप से स्वजातीय बंधती प्रकृति रूप करने का गुणसंक्रम कहते हैं—गुणसंक्रमो अवज्जन्तिगान असुभाणपुञ्चकरणादी। गुणसंक्रम का विशेष लक्षण संक्रमकरण गाथा ७७ में देखिए।

विशेषार्थ—जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसंक्रम होता है, तब तक आयु के बिना शेष सात कर्मों में स्थितिधात, रसधात और गुणश्रेणि प्रवर्तित होती है। किन्तु जब गुणसंक्रम होना बंद होता है तब स्थितिधातादि भी बंद हो जाते हैं तथा जब तक मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष रही हुई होती नहीं है, तब तक उसका स्थितिधात, रसधात होता है और एक आवलिका बाकी रहे तब वे दोनों बंद हो जाते हैं तथा मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति की दो आवलिका जब तक बाकी रही हुई होती नहीं है, तब तक मुणश्रेणि भी होती है और दो आवलिका शेष रहे तब उसमें गुणश्रेणि होना बद हो जाना है। तथा—

उवसंतद्वाऽन्ते विइए ओकडिद्यस्स दलियस्स ।

अज्ञवसाणविसेसा एकस्सुदओ भवे तिणह ॥२६॥

शब्दार्थ—उवसंतद्वाऽन्ते—उपशान्ताद्वा के अंत में, विइए—विधि द्वारा, ओकडिद्यस्स—विधि द्वारा, दलियस्स—दलिय का, अज्ञवसाणविसेसा—अज्ञवसाण विशेष से, एकस्सुदओ—एक का उदय, भवे—होता है, तिणह—तीन प्रकारों में से ।

गार्थार्थ—उपशान्ताद्वा के अंत में विधि द्वारा अपकार्षित किये गये तीन प्रकार के दलिकों में से अध्यवसाय विशेष से एक का उदय होता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के अन्तरकरण के अंतमुहूर्त काल का कुछ अधिक एक आवलिका काल शेष रहे तब उस समयाधिक काल पर्यन्त दूसरी स्थिति में रहे सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को अध्यवसाय द्वारा आकृष्ट कर अंतरकरण की अंतिम आवलिका में स्थापित करता है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—प्रथम समय में बहुत स्थापित करता है। द्वितीय समय में उससे स्तोक, तृतीय समय में उससे स्तोक इस क्रम से आवलिका के चरम समय पर्यन्त स्थापित करता है। स्थापित किये गये उन दलिकों की रचना

गोपुच्छाकार होती है। जब कुछ अधिक काल पूर्ण हो और एक आवलिका काल शेष रहे तब अध्यवसाय के अनुसार तो नों पुँजों में से किसी एक पुँज का उदय होता है। उस समय शुभ (उत्कृष्ट) परिणाम हों तो सम्यक्त्वपुँज का, मध्यम परिणाम हों तो मिश्रपुँज का और जघन्य पारणाम हों तो मिथ्यात्वपुँज का उदय होता है। यदि सम्यक्त्वपुँज का उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मिश्रपुँज का उदय होने पर तो सरा और मिथ्यात्वपुँज का उदय होने पर पहला गुणस्थान प्राप्त होता है। तथा—

छावलियासेसाए उबसमअद्वाइ जाव इगसमर्थ ।
असुभपरिणामओ कोइ जाइ इह सासणत्तंपि ॥२७॥

शब्दार्थ—छावलियासेसाए—छह आवलिका काल शेष रहने पर, उबसम-अद्वाइ—उपशमसम्यक्त्व अद्वा में, जाव—यात्, इगसमर्थ—एक समय, असुभपरिणामओ—अशुभ परिणाम होने ने, कोई—कोई, जाइ—जाना है, इह—यहाँ, सासादतत्व में भी।

गायत्रे—उपशमसम्यक्त्व—अद्वा (काल) में, एक समय यावत् छह आवलिका काल शेष रहने पर अशुभ परिणाम होने से कोई सासादतत्व में भी जाता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व—अंतरकारण—का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका जितना काल शेष रहे, तब किसी को अनन्तानुबंधिकपाय का उदय होता है और उसका उदय होने से दूसरा सासादनगुणस्थान प्राप्त करता है और उसके बाद वहाँ से गिरकर वह अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। तथा—

सम्मतोण समग्रं सब्वं देसं च कोइ पडिवज्जे ।
उबसंतदंसणी सो अंतर करणे ठिओ जाव ॥२८॥

शब्दार्थ—सम्मतेण समां—सम्यक्त्व के साथ, सध्यं—सर्वविरति, देहो—देशविरति, च—और, कोह—कोई, पञ्चजने—प्राप्त करता है, उवसंतदंसणी—उपशमसम्यक्त्वी, सो—वह, अंतरकरणो—अन्तरकरण में, ठिक्की—लियत है, जाव—तक, पर्यन्त ।

गाथार्थ—सम्यक्त्व के साथ कोई देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करता है । जब तक अन्तरकरण में शिक्षा है तब तक वह उपशमसम्यक्त्वी है ।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के साथ ही कोई-कोई देशविरतित्व और सर्वविरतित्व को प्राप्त होते हैं । अथवा वे पहले से सीधे पांचवे और छठे गुणस्थान में जाते हैं किन्तु सासादन भाव को प्राप्त नहीं करते हैं ।

उपशमसम्यग्हटित तब तक जानना चाहिये जब तक अन्तरकरण-अवस्था रहती है और अन्तरकरण-अवस्था तब तक रहती है, जब तक अनन्तानुबविकषाय का उदय नहीं होता है । अध्यवसायों की निर्मलता के अनेक भेद हैं । कोई तीन करण करके पहले से चारथे गुणस्थान में ही जाता है । कोई तीव्रविशुद्धि वाला मिथ्यात्व को उपशमित करने के साथ अप्रत्याख्यानावरणकषाय का भी क्षयोपशम कर पहले से पांचवे गुणस्थान को और अतितीव्र विशुद्धिद्वयरिणाम वाला कोई दूसरी और तीसरी इस तरह दोनों कषायों का क्षयोपशम कर पहले गुणस्थान से सर्वविरति भाव को भी प्राप्त करता है । उस-उस गुण का अनुसरण करके क्रम से प्रवर्खमान विशुद्धि वालों आत्मायें पहले गुणस्थान से चारथे, पांचवे, छठे या सातवें गुणस्थान में जा सकती हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है ।

इस प्रकार से प्रथमसम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये । अब पूर्वोक्त क्रमानुसार चारित्रमोहनीय की उपशमना का विचार भी विस्तार से करना चाहिये । अतएव चारित्रमोहनीय की उपशमना का निरूपण प्रारंभ करते हैं ।

चारित्रमोहनीयोपशमना : देशविरति-सर्वविरति लाज स्वामित्व
वैयगसम्महिति सोही अद्वाए अजयमाईया ।
करणदुर्गेण उपशमं चरित्तमोहस्स चेद्धंति ॥२६॥

शब्दार्थ—वैयगसम्महिति—वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्हटि, सोही—विशुद्धि, अद्वाए—काल में वर्तमान, अजयमाईया—अविरतसम्यग्हटि, करण-
दुर्गेण—दो करणों द्वारा, उपशमं—उपशम, चरित्तमोहस्स—चारित्रमोहनीय
का, चेद्धंति—प्रयत्न करते हैं ।

गाथार्थ—विशुद्धि काल में वर्तमान अविरतसम्यग्हटि
आदि गुणस्थान वाले वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्हटि दो करण
के द्वारा चारित्रमोहनीय के उपशम का प्रयत्न करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में चारित्रमोहनीय के उपशम करने वाले अधि-
कारी-स्वामी का निर्देश किया है—

जिसने संक्लिष्ट परिणाम का त्याग किया है और जो विशुद्ध
परिणामों में वर्तमान है, ऐसा वेदकसम्यग्हटि-क्षायोपशमिकसम्यग्हटि
अविरत, देशविरत, प्रमत्ता और अप्रमत्तासंयत गुणस्थानों में से किसी
एक गुणस्थान में वर्तमान है, वह दो करण—यथाप्रवृत्त तथा अपूर्वकरण
द्वारा चारित्रमोहनीय को उपशमित करने के लिए यथायोग्य रीति से
प्रयत्न करता है और तीसरे—अनिवृत्तिकरण से तो साक्षात् उपशमात
करता हो है, इसीलिये यहाँ आदि के दो करणों द्वारा प्रयत्न करता है,
यह संकेत किया है ।

अब इसी प्रसंग में अविरतसम्यग्हटि आदि का स्वरूप बत-
लाते हैं ।

अविरतसम्यग्हटि आदि का स्वरूप

जाणणगहणणुपालणविरजो विरई अविरओण्णेसु ।

आईमकरणदुर्गेण पडिवज्जइ दोष्हमण्णयरं ॥३०॥

शब्दार्थ—ज्ञान ग्रहण अनुपालन क्विरओ—ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन द्वारा विश्व, विरह—विश्व है, अविरहीणोस्—अन्य भंगों में वर्तमान अविरह है, आहमकरण दुर्गोण—आदि के दो करणों द्वारा, पद्धिक्षजइ—प्राप्त करता है, दीषहमण्णयर—दोनों में से अन्यतर एक को।

गाथार्थ—ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन द्वारा जो विश्व है वह विश्व है, अन्य भंगों द्वारा अविरह है। आदि के दो करणों द्वारा दोनों में से अन्यतर (देशविरति या सर्वविरति) —किसी एक को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—विरति-क्षत का यथार्थ ज्ञान, उसका विधिपूर्वक ग्रहण और अनुपालन करने से विश्व होता है अर्थात् विधिपूर्वक आत्मसाक्षी और गुरुसाक्षी से ब्रतों का उच्चारण करने रूप ग्रहण, ग्रहण किये ब्रतों को बराबर पालन करने रूप अनुपालन तथा ब्रतों का सम्यक् प्रकार से यथार्थ ज्ञान होने पर ब्रती या विश्व होता है। उसमें जिसने त्रिविधि—मन-बचन-काया द्वारा उनके पापव्यापार से विराम ले लिया है, वह सर्वविरति कहलाता है और जिसने देश से—आंशिक विराम लिया—त्याग किया है उसे देशविरति कहते हैं तथा ज्ञान-ग्रहण-अनुपालन रूप भंग के सिवाय अन्य भंग में जो वर्तमान है, वह अविरह है। जिसका विस्तृत स्पष्टीकारण इस प्रकार है—

ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन रूप तीन पद के निम्नलिखित आठ भंग होते हैं—

- १ अज्ञान—अग्रहण—अपालन,
- २ अज्ञान—अग्रहण—पालन,
- ३ अज्ञान—ग्रहण—अपालन,
- ४ अज्ञान—ग्रहण—पालन,
- ५ ज्ञान—अग्रहण—अपालन,
- ६ ज्ञान—अग्रहण—पालन,
- ७ ज्ञान—ग्रहण—अपालन,
- ८ ज्ञान—ग्रहण—पालन।

इन आठ भंगों से आदि जे सात भंगों में वर्णसंहितात्मक तो अविरत है। क्योंकि उसमें यथार्थोरथ रीति से सम्यज्ञान, सम्यग् प्रहृण या सम्यक् पालन नहीं है। सम्यज्ञान और सम्यग् प्रहृणपूर्वक पालन किये जाने वाले, ब्रत ही मोक्ष रूप फल को प्रदान करते हैं, परन्तु सम्यक्-ज्ञान और सम्यग् प्रहृण के मिवाय पूणाक्षर त्याय में पाले जाने पर भी वे द्रव फलप्रद नहीं होते हैं। सात भंगों में से आदि के चार भंगों में तो सम्यज्ञान का ही अभाव है और उसके बाद के तीन भंगों में सम्यग् प्रहृण अथवा सम्यक्-पालन का अभाव है। इसीलिये आदि के सात भंगों में बत्तमान आत्मा अविरत कहलाती है। यदि और भी सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो आदि के चार भंगों में बत्तमान आत्मा तो मिथ्यादृष्टि हो है। क्योंकि उसे यथार्थ ज्ञान हो नहीं है और बाद के तीन भंग अविरतसम्यादृष्टि के हैं। लेकिन अन्तिम भंग में बत्तमान आत्मा व्रतों के यथार्थज्ञानपूर्वक और विधिपूर्वक उनको प्रहृण करके अनुपालन करने वाली है, इसलिये उसे विरत कहते हैं। उसमें देश से पापव्यापार का त्याग करने वाली देशविरत और सर्वथा पाप-व्यापार से विरत सर्वविरत कहलाती है।

ब्रतग्रहण के भेद ने देशविरत-आवक के अनेक प्रकार हैं। जैसे कोई एक अणुद्रती—अणुक्त ग्रहण करने वाला, कोई दो अणुद्रती, कोई तीन अणुद्रती यादृश उत्कृष्ट से कोई पूर्ण वारह ब्रतधारी और चेवल अनुमति सिवाय समस्त पापव्यापार का त्याग करने वाला भी होता है।

अनुमति तीन प्रकार की है—१ प्रतिसेवनानुमति, २ प्रतिश्रवणानु-मति और ३ संवासानुमति। इनमें जो स्वयं कृत और अन्य स्वजनादि द्वारा किये गये पाप का अनुमोदन करता है और सावद्य आरम्भ से बने अशनादि का उपभोग करता है, उसे प्रतिसेवनानुमति दोष लगता है। जब पुत्रादि द्वारा किये हुए पाप क्षयों को सुनता है, मुनकर अनु-मोदन करता है—ठीक मानता है और प्रतिषेध नहीं करता है तब प्रतिश्रवणानुमति और जब पापारम्भ में प्रवृत्त पुत्रादि पर मात्र ममत्व-

युक्त होता है, किन्तु उनके किसी पापकार्य को सुनता नहीं या अच्छा नहीं मानता है, तब संवासानुमति दोष लगता है।^१ इनमें अन्तिम दोष का जो सेवन करता है वह उत्कृष्ट देशविरत है और अन्य श्रावकों से गुणों में श्रेष्ठ है। जो संवासानुमति से—पुश्चादि के ममत्व भाव से भी विरत है—वह सर्वविरत कहलाता है।

इन दो—देशविरत और सर्वविरति में से किसी भी विरति को आदि के दो करण—यथाप्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण के द्वारा प्राप्त करता है। यदि अविरति होने पर उक्त दो करण करे तो देशविरति अथवा सर्वविरति इन दोनों में ये किसी एक को प्राप्त करता है और देशविरति होते उक्त दो करण करे तो सर्वविरति को ही अंगोकार करता है।

देशविरति, सर्वविरति प्राप्त करते हुए तीसरा अनिवृत्तिकरण इसलिये नहीं होता है कि करणकाल से पहले भी अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त प्रति समय अनन्तगुण वदती विशुद्धि ने वर्तमान अशुभकर्मों के रस को द्विस्थानक और शुभ प्रकृतियों के रस को चतुर्स्थानक करता है इत्यादि जैसा पूर्व में यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के स्वरूप निर्देश के प्रसंग में कहा गया वैसा यहाँ भी सब होता है, मात्र देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करते हुए अपूर्वकरण में गुणश्च यि नहीं होता है और अपूर्वकरण के पूर्ण होते ही अनन्तर समय में अवश्य ही देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त करता है। इसलिये यहाँ तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं होता है। इसका कारण यह है कि सर्वथा क्षय या उपशम करना हो तो वहाँ ही अनिवृत्तिकरण होता है। देशविरति या सर्वविरति प्राप्त करते अनुक्रम से अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्या-

^१ पहली अनुमति गंतव्य अथवा अन्य द्वारा कृत पाप आदि का अनुमोदन आदि है, दूसरी गंतव्य मात्र पुश्चादि कृत पाप का अनुमोदन आदि है, तीसरी में तो वह भी नहीं है—गृहस्थ में रहने से मात्र ममत्व ही है।

नावरण कषाय का सर्वथा क्षय या सर्वथा उपशम नहीं करना पड़ता है, परन्तु क्षयोपशम करना होता है और वह तो अपूर्वकरण में ही होता है। जिससे यहाँ तीसरे करण की आवश्यकता नहीं रहती है। इथा—

उदयावलिए उच्चि गुणसेहि कुणइ चरित्तेण ।

अन्तो असंखगुणणाइ तत्तियं बड्डई कालं ॥३१॥

शब्दार्थ—उदयावलिए—उदयावलिका से, उच्चि—ऊपर, गुणसेहि—गुणश्चेणि, कुणइ—करता है, चरित्तेण—चारित्र से, अन्तो—अन्तमुहूर्त, असंखगुणणाइ—असंख्यात् गुणाकार रूप से, तत्तियं—उत्तने, बड्डई—प्रवर्धमान, कालं—काल ।

गाथार्थ—उदयावलिका से ऊपर अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त असंख्यात् गुणाकार रूप से गुणश्चेणि करता है। उत्तने काल प्रवर्धमान परिणाम वाला होता है ।

विजेषार्थ—देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करने के लिये होने वाले अपूर्वकरण में गुणश्चेणि नहीं होती, किन्तु करण पूर्ण होने के बाद देशविरति अथवा सर्वविरति चारित्र के साथ ही यानि कि जिस समय देशविरति और सर्वविरति चारित्र प्राप्त होता है, उसी समय से उदयावलिका से ऊपर के समय में लेकर पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तरोत्तर अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थान में असंख्यात्-असंख्यात् गुणाकार रूप से अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त गुणश्चेणि—दलरचना करता है ।

यद्यपि देशविरत और सर्वविरत गुणस्थान में वह गुणस्थान जब तक रहे तब तक गुणश्चेणि होती है, लेकिन यहाँ अन्तमुहूर्त कहने का कारण यह है कि देशविरति और सर्वविरति प्राप्त होने के बाद अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त आत्मा के अवश्य प्रवर्धमान परिणाम होते हैं, तत्पश्चात् नियम नहीं है। उसके बाद तो कोई प्रवर्धमान परिणाम वाली, कोई अवस्थित—स्थिर-पूर्व के समान परिणाम वाली और कोई

हीयमान परिणामी होती है। यदि प्रबर्धमान परिणामी हो तो गुणश्रेणि चढ़ते क्रम से करता है और हीयमान परिणामी हो तो हीयमान क्रम से और अवस्थित परिणाम होने पर अवस्थित—स्थिर गुणश्रेणि करती है।

हीयमान परिणामी आत्मा ऊपर के स्थानों में से दलिक अल्प उत्तारती है और अल्प स्थापित करती है। अवस्थित परिणामी पूर्व के समय में जितने दलिक उतारे थे, उतने ही उत्तार कर स्थापित करती है। देशविरति या सर्वविरति जब स्वभावस्थ और हीनपरिणामी हो तब स्थितिधात और रसधात नहीं करता है। तथा—

परिणामपञ्चएण गमनागमं कुण्ड करणरहिओवि ।

आभोगणदृढचरणो नरणे काञ्छण पावेइ ॥३२॥

शब्दार्थ— परिणामपञ्चएण (अनाभोग) परिणाम के निमित्त से, गमनागम—गमनागमन, कुण्ड करती है, करणरहिओवि—करण किये बिना भी, आभोगणदृढचरणो—आभोग (उपयोग) पूर्वक जिसका चारित्र नष्ट हुआ है, करणे करण को, काञ्छण करके, पावेइ—प्राप्त करता है—चढ़ता है।

गाथार्थ—(अनाभोग) परिणाम के निमित्त से आत्मा करण किये बिना भी गमनागमन करती है। उपयोगपूर्वक जिसका चारित्र नष्ट हुआ है वह दो करण करके ही प्राप्त करती है—चढ़ती है।

विशेषार्थ— अनाभोग (उपयोग सिवाय) परिणाम के ह्लास रूप निमित्त से गिरते परिणाम होने से देशविरति आत्मा अविरति को प्राप्त करती है अथवा सर्वविरति देशविरति या अविरति को प्राप्त करे तो वह फिर से भी पूर्व में प्राप्त देशविरति और सर्वविरति को करण किये बिना ही प्राप्त करती है। इस प्रकार करण किये बिना भी अनेक बार गमनागमन करती है, परन्तु जिसने आभोग (उपयोग) पूर्वक अपने चारित्र को नष्ट किया है और वैसा करके देशविरति से अथवा सर्वविरति से गिरकर मिथ्यात्म पर्यन्त भी जो गई है, वह पुनः

जबन्य से अन्तमुहूर्त काल और उत्कृष्ट से बहुत काल में पूर्व प्रतिपक्ष देशविरति अथवा सर्वविरति को उक्त प्रकार से—दो करण करके ही प्राप्त करती है। इसका कारण यह है कि आभोग (उपयोग) पूर्वक गिरा हुआ जोब विलष्ट परिणामी होता है, जिसमें वह करण किये बिना चढ़ नहीं सकता है, किन्तु कोई इसी प्रकार के कर्म के उदय से अनाभोग के कारण गिरा हुआ हो तो वह तथाप्रकार के विलष्ट परिणाम नहीं होने से करण किये बिना ही चढ़ जाता है। तथा—

परिणामपञ्चएण चडविवहं हाइ बड्डृई वाचि ।

परिणामवड्डृयाए गुणसेद्धि तत्त्वं रथइ ॥३३॥

शब्दार्थ—परिणामपञ्चएण—परिणाम इ निमित्त से, चडविवहं—चार प्रकार से, हाइ—चत्ती है, बड्डृई—वहती है, वाचि—अथवा, परिणामवड्डृयाए—परिणाम के अवस्थित रहने पर, गुणसेद्धि—गुणश्रेणि, तत्त्वं—उत्ती ही, रथइ—रहता है।

गाथार्थ—परिणाम के निमित्त से गुणश्रेणि चार प्रकार से घटती है अथवा बढ़ती है, परिणाम के अवस्थित रहने पर उत्ती ही रहता है।

विशेषार्थ—परिणाम रूप कारण द्वारा गुणश्रेणि बढ़ती है और घटती है। यानि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में यदि परिणाम प्रवर्धमान हों तो ऊपर के स्थानों में में अनुक्रम से अधिक-अधिक दलिक लेकर अधिक-अधिक स्थापित करता है। स्थिर परिणामी हो तो उतने लेकर उतने ही स्थापित करता है और हीयमान परिणामी हो तो ऊपर से अल्प दलिक लेता है और अल्प स्थापित करता है।

देशविरति और सर्वविरति प्राप्त होने के बाद अन्तमुहूर्त पर्यन्त तो आत्मा अवश्य प्रवर्धमान परिणाम बाली ही होती है किन्तु उसके बाद का नियम नहीं है। कोई हीनपरिणामी होती है, कोई अवस्थित-परिणामी और प्रवर्धमानपरिणामी भी होती है। इसी कारण गुण-

श्रेणि में—ऊपर से दलिकों को उतार कर रचना में भी केरफार होता है। यदि हीनपरिणामी—पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय-समय में मन्द परिणामी आत्मा होती जाये तो गुणश्रेणि भी असंख्यातभाग-हीन, संख्यातभागहीन, संख्यातगुणहीन या असंख्यातगुणहीन होती है। अथवा ऊपर से इतने-इतने कम उतार कर नीचे हीन-हीन स्थापित करती है।

यदि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में परिणाम प्रवर्धमान होते जाये तो परिणामानुसार गुणश्रेणि भी पूर्वोक्त प्रकार से बढ़ती है और पूर्व समय में जैसे परिणाम थे, वैसे ही उत्तर समय में भी परिणाम रहें तो गुणश्रेणि भी उतनी ही होती है। यानि पूर्वसमय में जितने दलिक उतारे थे और जिस क्रम से स्थापित किये थे उतने ही उत्तर समय में उतार कर स्थापित करती हैं।

गुणश्रेणि के क्रम से होने वाली दलरचना अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थानों में होती है और देशविरति तथा सर्वविरति गुणस्थान जब तक रहें, तब तक वह भी समय-समय होती रहती है।

इस प्रकार से देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति का क्रम जानना चाहिये। अब अनन्तानुवंधी की विसंयोजना का स्वरूप-निर्देश करते हैं।

अनन्तानुवंधि-विसंयोजना

सम्मुप्यायणविहिणा चउगडया सम्मदिट्ठपञ्जता ।

संजोयणा विजोयन्ति न उण पढमट्ठति कारेति ॥३४॥

शब्दार्थ— सम्मुप्यायणविहिणा—सम्यक्त्वात्पाद की विधि से, चउगडया—चारों गति के जीव, सम्मदिट्ठ—नम्यमृद्गिट्, पञ्जता—पर्याप्ति, संजोयणा—संयोजना-अनन्तानुवंधी की, विजोयन्ति—विसंयोजना करते हैं, न—नहीं, उण—किन्तु, पढमट्ठति—प्रथम स्थिति, कारेति—करते हैं।

गाथार्थ—पूर्वोक्त सम्यक्लोक्याद की विधि से चारों गति के पर्याप्त (क्षायोपशमिक) सम्यवृद्धि अनन्तानुबंधि को विसंयोजना करते हैं परन्तु (तीसरे करण में) प्रथमस्थिति नहीं करते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ अनन्तानुबंधि के विसंयोजक का स्वरूप बताया है कि उपशमसम्यक्त्वप्राप्ति के समय जो तीन करण कहे हैं, उन्हीं तीन करणों के क्रम से चारों गति के सङ्गी पञ्चन्द्रिय पर्याप्त क्षायोपशमिक सम्यवृद्धि जीव चौथे से सातवें गुणस्थान तक में वर्तमान—उनमें से चौथे गुणस्थान में वर्तमान चारों गति के जीव, देशविरति तिर्यच और मनुष्य तथा सर्वविरति मनुष्य ही अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते हैं। किन्तु उपशमसम्यक्त्व प्राप्ति करते अनिवृत्तिकरण में जो अन्तरकरण होता है, वह यहाँ नहीं होता है और उसके महीं होने से प्रथमस्थिति भी नहीं होती है। क्योंकि अन्तरकरण के नीचे की छोटी स्थिति प्रथमस्थिति और ऊपर की द्वितीय—बड़ी स्थिति कहलाती है। यहाँ जब अन्तरकरण ही नहीं होता है, परन्तु उद्वलनानुविद्ध गुणसंक्रम द्वारा सर्वथा नाश ही होता है तो फिर प्रथम-द्वितीय स्थिति केमें हो सकती है? अर्थात् अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते हुए अनिवृत्तिकरण में प्रथमस्थिति या अन्तरकरण नहीं होता है। जिसके सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उचरिमगे करणदुर्गे दलियं गुणसंकमेण तेसि तु ।

नासेह तओपच्छा अन्तमुहूता सभावत्यो ॥३५॥

शब्दार्थ—उचरिमगे—ऊपर के करणदुर्गे—दो करणों में दलिय—दलिक, गुणसंकमेण—गुणसंक्रम द्वारा, तेसितु—उनका (अनन्तानुबंधि के दलिकों का) नासेह नाश करता है, तओपच्छा उसके बाद, अन्तमुहूता—अन्तमुहूर्त, सभावत्यो—सभावस्थ।

गाथार्थ—ऊपर के दो करण में गुणसंक्रमण द्वारा उनका (अनन्तानुबंधि के दलिकों का) नाश करता है और अन्तमुहूर्त बाद सभावस्थ होता है।

विशेषार्थ—उपर के दो करण—अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—में अनन्तानुबंधि लोभ, मान, माया और लोभ के दलिकों का उद्वलनासंक्रमानुबिद्ध गुणसंक्रम द्वारा सर्वथा नाश करता है, यानि वंधती हुई शेष कपाय रूप कर देता है। ऊपर के गुणस्थानों में जिस कर्म का सर्वथा नाश करना हो, उनमें के बहुतसों में उद्वलनासंक्रम और गुणसंक्रम दोनों होते हैं, जिसमें अन्तमुहूर्त मात्र काल में उनका सर्वथा नाश होता है और यहाँ अनन्तानुबंधि का सर्वथा नाश करता है जिसमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में उद्वलनायुक्त गुणसंक्रम द्वारा मात्र अन्तमुहूर्त में ही उनका सर्वथा नाश करता है और मात्र एक उदयावलिका अवशिष्ट रहती है। इसका कारण यह है कि उसमें कोई करण नहीं लगता है। ऐसे रही वह आवलिका स्तिवृक्षक्रम द्वारा वैद्यमान स्वजातीय प्रकृति में संक्रमित होकर दूर होती है। तत्पद्वात् अन्तमुहूर्त के बाद अनिवृत्तिकरण के अन्त में शेष कर्मों का भी स्थितिधात् और गुणश्चेणि नहीं होती है, परन्तु मोहनीय की चौबीस प्रकृतियों की सत्ता बाला होता हुआ स्वभावस्थ ही रहता है।

इस प्रकार से अनन्तानुबंधि की विसंयोजना का स्वरूप जानना चाहिये। किन्तु जो आचार्य उपशमश्रेणि करते हुए अनन्तानुबंधि की उपशमना मानते हैं, उनके मतानुसार अनन्तानुबंधि की उपशमना विधि इस प्रकार है—

अनन्तानुबंधि उपशमना : अन्य मताःतर

अविरतसम्यग्वटिष्ठि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में से किसी भी एक गुणस्थान में वर्तमान जीव अनन्तानुबंधि की उपशमना का प्रयत्न करता है। वह मन, वचन और काय इन तीन योगों में से किसी भी एक योगयुक्त होता है। तेजो, पद्म और शुचल लेश्या में से कोई भी एक शुभ लेश्या बाला, साकारोपयोग में उपयुक्त, अन्तःकोडाकोडी सागरोपम स्थिति की सत्ता बाला भव्य जीव होता है तथा वह परावर्तमान पुण्यप्रकृतियों का बंधक होता है एवं प्रति समय अघुम प्रकृतियों के रस को अनन्तगुण हीन करता है तथा शुभ प्रकृतियों के

रस को अनन्तगुण बढ़ाता है। स्थितिवंध भी पूर्ण हो तब जैसे-जैसे पूर्ण होता जाता है वैसे-वैसे अन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यात्मेभाग। हीन-हीन करता है। इस प्रकार करण प्रारम्भ करने के पूर्व भी अन्तमुहूर्त पर्यन्त निर्मल परिणाम बाला रहता है। तत्पश्चात् अन्तमुहूर्त-काल प्रमाण तीन करण करता है—१ यथाप्रवृत्तकरण, २ अपूर्वकरण, ३ अनिवृत्तिकरण तथा चीथा उपशान्तादा।

उसमें यथाप्रवृत्तकरण में प्रवेश करता जीव पूर्व-पूर्व समय से अनन्तगुण प्रवर्धमान परिणामों से प्रवेश करता है, किन्तु तद्योग्य विशुद्धि के अभाव में स्थितिधात, रसधात गुणश्रेणि या मुणसंक्रम इनमें से एक को भी नहीं करता है। उस अन्तमुहूर्त प्रमाण यथाप्रवृत्तकरण को काल में प्रत्येक समय में त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य लोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान होते हैं और प्रत्येक समय के वे विशुद्धिस्थान घटस्थानपतित हैं तथा प्रथम समय में जो विशुद्धिस्थान हैं, उनसे दूसरे समय में अधिक होते हैं, तीसरे समय में उनमें अधिक, इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त अधिक-अधिक होते हैं। तथा—

यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जघन्यविशुद्धि अल्प, उससे द्वितीय समय में जघन्यविशुद्धि अनन्तगुण, उससे तृतीय समय में जघन्यविशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह यथाप्रवृत्तकरण के संख्यात्मेभाग पर्यन्त जानना चाहिये। उससे यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तमुण, उससे संख्यात्मेभाग के बाद के समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे संख्यात्मेभाग के बाद के दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण,

^१ कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह के कर्ता पल्योपम के संख्यात्मेभागहीन मानते हैं।

उससे संख्यात्वें भाग के बाद के तीसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह ऊपर के एक-एक समय की उत्कृष्ट और संख्यात्वें भाग के बाद के एक-एक समय की जघन्य अनन्तगुण विशुद्धि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम संख्यात्वें भाग में जो उत्कृष्ट विशुद्धि अनुकूल है उसे भी उत्तरोत्तर अनन्तगुण समझना चाहिये। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण में विशुद्धि का तारतम्य होता है।

इस तरह से यथाप्रवृत्तकरण पूर्ण कर अपूर्वकरण में प्रवेश करता है। अपूर्वकरण में भी प्रति समय नाना जीवों की अणेका असंख्यात्मोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान होते हैं और पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में अधिक होते हैं तथा प्रत्येक समय के विशुद्धि स्थान पट्टस्थानपतित हैं।

विशुद्धि का तारतम्य इस प्रकार है—यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य-विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है। इस प्रकार अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त विशुद्धि का तारतम्य होता है तथा अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर स्थितिघात, रसधात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अन्य स्थितिबंध ये पाँच बातें एक साथ प्रारम्भ होती हैं। जिनका आशय इस प्रकार है—

स्थितिघात—अर्थात् जो सत्तागत स्थिति के ऊपर के भाग में से अधिक-से-अधिक सैकड़ों सागरीपम प्रमाण और कम-से-कम पल्योपम के संख्यात्वें भाग प्रमाण स्थिति के खण्ड हैं, उनका क्षय करने का प्रयत्न करता है—उतने स्थान में के दलिकों को हटाकर भूमि साफ करने का प्रयत्न करता है। उसके दलिकों को नीचे जिस स्थिति का घात नहीं होता है, उसमें निष्क्रिप्त करता है। इस तरह पूर्व-पूर्व समय

से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातम् गुण अधिक दलिकों को ग्रहण करता हुआ अन्तमुहूर्त काल में उतनी स्थिति का नाश करता है। पुनः उपर्युक्त क्रम से पूर्योपम के संख्यात्वे भाग प्रमाण दूसरा खण्ड लेता है और अन्तमुहूर्त में उसका नाश करता है। इस रीति से अपूर्वकरण के काल में हजारों स्थितिशात करता है। अपूर्वकरण में प्रथम समय जो स्थितिसत्ता थी, उससे चरम समय में संख्यातम् गुणहीन होती है, अर्थात् संख्यात्वे भाग की शेष रहती है।

रसधात्- अर्थात् अशुभ प्रकृतियों का सत्ता में जो रस है, उसका अनन्तवर्ग भाग रख लेप अनन्त भागों को समय-समय नाश करता अन्तमुहूर्त काल में पूरी तरह से नाश करता है। नत्यच्चात् शेष रखे अनन्तवर्ग भाग का अनन्तवर्ग भाग रखकर शेष अनन्त भागों को समय-समय में नाश करता हुआ अन्तमुहूर्त में नाश करता है और शेष रखे अनन्तवर्ग भाग का अनन्तवर्ग भाग रखकर अनन्त भागों को समय-समय नाश करता हुआ अन्तमुहूर्त काल में नाश करता है; इस प्रकार में एक स्थितिशात जितने काल में हजारों रसधात् करता है।

गुणश्रेणि— उदय समय से लेकर अन्तमुहूर्तप्रमाण स्थिति में ऊपर के स्थानों में से दलिक ग्रहण करके उनको उदयावलिका में ऊपर के समय से प्रारम्भ कर अन्तमुहूर्त प्रमाण समयों में पूर्व पूर्व से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है। इस प्रकार प्रतिसमय अन्तमुहूर्त से ऊपर के स्थानों में से असंख्यात-असंख्यात गुण अधिक दलिकों को उतार कर उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर पूर्वोक्त क्रम से स्थापित करता है। इस गुणश्रेणि—दलरचना का अन्तमुहूर्त अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में बढ़ा है। यानि अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो दलिक उतारता है, उनको उदयावलिका छोड़ उसके ऊपर के समय से लेकर आपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से अधिक समयों में स्थापित करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयों को भोगकर जैसे-जैसे समाप्त करता है, वैसे-वैसे दलरचना शेष-शेष समयों में होती

है, परन्तु ऊपर नहीं बढ़ाता है। यानि अपूर्वकरण के पहले समय में गुणश्रेणि का जो अन्तिम समय था, वही चरम समय के रूप में बना रहता है।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि जिसका उदय होता है, उसकी गुणश्रेणि उदय समय से प्रारम्भ होती है और जिसका उदय नहीं होता है, उसकी गुणश्रेणि प्रदेशोदयावलिका छोड़कर ऊपर के समय से होती है।

गुणसंक्रम—अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबंधि के दलिक स्वजातीय वृद्धती परप्रकृति में अद्य संक्रमित करता है, दूसरे समय में असंख्यातगुण अधिक संक्रमित करता है, तीसरे समय में उससे भी असंख्यातगुण अधिक संक्रमित करता है। इस तरह पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण अधिक याव। अपूर्वकरण के चरम समय पर्यंत संक्रमित करता है। अनन्तानुबंधि की उपशमना करते गुणसंक्रमण भाव अनन्तानुबंधि का ही होता है। अवध्यमान प्रत्यक्ष अशुभ प्रकृति का गुणसंक्रमण तो आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

अस्थस्थितिबंध—अपूर्वकरण के प्रथम समय में अपूर्व अल्पस्थिति-बंध करता है। तत्पश्चात् होने वाला दूसरा स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवे भाग हीन करता है। इस तरह आगे-आगे के स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवे भाग न्यून-न्यून होते जाते हैं। स्थितिधात और स्थितिबंध का काल तुल्य है। अर्थात् स्थितिधात और स्थितिबंध साथ ही प्रारम्भ होते हैं और साथ ही पूर्ण होते हैं।

इस प्रकार से इन पांच पदार्थों को अपूर्वकरण में युगपद आरम्भ करता है। एक साथ चाहे हुए जीवों में भी अध्यवसाय का तारतम्य होता है, जिसमें उसका निवृत्ति ये दूसरा नाम भी है।

अपूर्वकरण पूर्ण करके अविवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। अपूर्वकरण वहाँ तक कहलाता है कि जहाँ तक चाहे हुए जीवों में अध्यवसाय का तारतम्य होता है। इसके बाद जिस समय से साथ च हुए

जीव समान परिणाम वाले होते हैं, उस समय से अनिवृत्तिकरण की शुरुआत होती है। इस करण में प्रत्येक समय एक साथ चाहे हुए प्रत्येक जीव के अध्यवसाय समान होते हैं, मात्र पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। जिससे इस करण के जितने समय, उतने ही विशुद्धि के स्थान हैं। अपूर्वकरण की तरह यहाँ भी पूर्वोक्त स्थितिधात आदि पांचों पदों को एक ही साथ प्रारम्भ करता है और अनिवृत्तिकरण के संख्यातभाग जाये और एक संख्यातवां भाग शेष रहे तब अनन्तानुबंधि का अन्तरकरण करता है। यहाँ अनन्तानुबंधि का उद्यग नहीं होने गे जीर्ण एक आवलिका को शोहकर उपर के अन्तमुँहूर्त प्रमाण अन्तरकरण के दलिकों को बध्यमान परप्रकृति में संक्रमित करता है और अभिनव स्थितिवंध या स्थितिधान करते जिनना समय जाता है उतने समय में खाली करता है। प्रथमस्थिति के आवलिकागत दलिकों को स्तिवृक्कसंक्रम द्वारा बेद्यमान परप्रकृति में संक्रमित कर समाप्त—निःशेष करता है।

जिस समय अन्तरकरणक्रिया प्रारम्भ होती है, उसके दूसरे समय में द्वितीय स्थितिगत अनन्तानुबंधि के दलिक को उपशमित करना प्रारम्भ करता है। प्रथम समय में स्तोक, दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार अन्तमुँहूर्त काल में सम्पूर्णतया उपशमित करता है। उपशमित करता है वानि अन्तमुँहूर्त पर्यन्त उदय, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निद्रात्ति, निकाचना और उद्वोरणा के अयोग्य करता है। उपशात हुए दलिकों में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त उक्त कोई करण नहीं लगता है, उसी प्रकार प्रदेश या रस से उदय भी नहीं होता है।

इस प्रकार जो आचार्य अनन्तानुबंधि की उपशमना मानते हैं उनके मतानुसार उसकी उपशमना की यह विधि है।^१

^१ अनन्तानुबंधिनी की यह विधि षडशीति वृत्ति से यहाँ उद्धृत की है।

अब दर्शनमोहनीय की क्षणणा की विधि का निरूपण करते हैं।

दर्शनमोहन्तपणानिरूपण

दंसणखवणस्सरिहो जिणकालीओ पुमट्ठवासुवरि ।

अणणासकमा करणाइ करिय गुणसंकमं तहय ॥३६॥

अपुव्वकरणसमगं गुणउव्वलणं करेह दोष्हंपि ।

तककरणाइ जं तं ठिड्संतं संखभागन्ते ॥३७॥

शब्दार्थ—दंसणखवणस्सरिहो—दर्शनमोहनीय की क्षणणा के बाय, जिणकालीओ---जिनकालिक, पुमट्ठवासुवरि आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला पुरुष, अणणासकमा---अनन्तानुबंधि के नाथ (विसंयोजना) में कहे गये क्रम से, करणाइ करणों को, करिय करके, गुणसंकम—गुणसंक्रम, तहय—उसी प्रकार।

अपुव्वकरणसमग्य अपूर्वकरण के साथ, गुणउव्वलणं—गुण और उद्वलना संक्रम, करेह- करता है, दोष्हंपि—दोनों का भी, तककरणाइ---उग अपूर्वकरण के आदि में, जो जो, तं उस, ठिड्संतं—स्थितिसत्ता को, संखभागन्ते—अंत में संख्यात्वे भाग।

गाथार्थ—आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला जिनकालिक पुरुष दर्शनमोहनीय की क्षणणा के बोग्य है। वह अनन्तानुबंधि की विसंयोजना में कहे गये तीन करण के क्रम से करणों को करके तथा उसी प्रकार गुणसंक्रम करके—

अपूर्वकरण के साथ ही दोनों (मिथ्र और मिथ्यात्व मोहनीय) का गुणसंक्रम और उद्वलनासंक्रम करता है, जिससे अपूर्वकरण की आदि में वर्तमान स्थितिसत्ता को अंत में संख्यात्वे भाग करता है।

विश्वाषार्थ—जिस काल में तीर्थकर विराजमान हैं, उस काल में उत्पन्न ऐसा जिनकालिक आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला प्रथम संहननी मनुष्य (पुरुष) दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्व, मिथ्र और सम्यकत्व

मोहनीय—की क्षणणा करने के लिये अधिकारी है—योग्य है और वह अनन्तानुबंधि की विसंयोजना में बताये गये अनुसार तीन करण तथा गुणसंक्रम करके दर्शनमोहनीयत्रिक का सर्वथा नाश करता है।

जिसका विस्तार से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनमोहनीय का क्षय करने के लिये प्रयत्न करता जीव यथा-प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करता है। अर्थात् इन करणों में जैसे पूर्व में स्थितिवात् आदि जो कुछ भी करना कहा गया है, उसी तरह यहाँ भी यथायोग्य रीति में करता है। अलग गुणस्थान में विषय गुणदि दी जिसके अधिक काल में थोड़ा कार्य होता था। दर्शनमोहनीय की क्षणणा चौथे से सातवें गुणस्थान तक होती है। उसकी विशुद्धि अनन्तगुण अधिक होने से अन्य काल में स्थितिवातादि अधिक प्रमाण होते हैं। विशेष यह है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर उद्वलनासंक्रम युक्त गुणमंडप प्रवत्तित होता है। गुणसंक्रम द्वारा मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में डालता है। जिसमें उन दोनों के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय रूप करता है और उद्वलनासंक्रम द्वारा स्थिति के खंड करके स्व और पर में प्रक्षिप्त कर नाश करता है। उनमें प्रथम-स्थिति खंड बृहद् उसके बाद उत्तरोत्तर छोटे-छोटे स्थितिखंड करता है। इस तरह अपूर्वकरण के चरण समय पर्यन्त होता है।

यहाँ इतना विशेष है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अनु-दित मिश्र और मिथ्यात्वमोहनीय में उद्वलना और गुण ये दोनों संक्रम होते हैं, किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय में तो मात्र उद्वलनासंक्रम हो होता है। इसका कारण यह है कि दर्शनमोहनीय और चारिक्र-मोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है। उसके दलिकों को तो नीचे उतार कर उदयसमय से लेकर गुणशेणि क्रम से स्थापित करता है।

इस प्रकार उद्वलनानुबिद्ध गुणसंक्रम द्वारा मिथ्यात्व और मिश्र की स्थिति क्रम होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय में उन दोनों की

जितनी स्थितिसत्ता थी, उसके संरूपातबै भाग जितनी ही चरम समय में सत्ता रहती है। तथा—

एवं ठिइबन्धो वि हु पविसइ अणियट्रिकरणसमर्यमि ।

अप्पुब्वं गुणसेहि ठितिरसखंडाणि बंधं च ॥३८॥

देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहियं च होय दिट्रितिगं ।

कमसो असणिणचउरिरियाइतुल्लं च ठितिसत्तं ॥३९॥

ठितिखंडसहस्राइ एककेकके अन्तरमि गच्छेति ।

पलिओवम संखंसे दंसणसंते तओ जाए ॥४०॥

शब्दार्थ—एव—इसी प्रकार, ठिइबन्धो वि—(अपूर्व) स्थितिबन्ध भी, हु—निश्चयवाचक अव्यय, पविसइ—प्रवेश करता है, अणियट्रिकरणसमर्यमि—अनिवृत्तिकरण काल में, अप्पुब्वं—अपूर्व, गुणसेहि—गुणश्चेण, ठितिरसखंडाणि—स्थिति और रसघात, बंधं—बंध, च—और।

देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहियं—देशोपशमना, निकाचना, निधत्तिरहित, च—और, होइ—होती है, दिट्रितिगं—दृष्टित्रिक, कमसो—क्रमशः, असणिणचउरिरियाइतुल्लं—असंजी पंचेन्द्रिय और चतुर्गिद्वियादि के नुन्य, च—और, ठितिसत्तं—स्थितिरात्ता।

ठितिखंडसहस्राइ—हजारों स्थितिखण्ड, एककेकके एक-एक, अन्तरमि—अन्तर में, गच्छेति—होते हैं, पलिओवमसत्तालंसे—पल्योपम के संरूपातबै भाग, दंसणसंतं—दण्डमाहनीय की सत्ता, तओ—तब, जाए होने पर।

गाथार्थ—इसी प्रकार अपूर्व स्थितिबन्ध भी होता है, तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है, उस समय अपूर्व शेण, स्थिति और रसघात और बन्ध करता है।

अनिवृत्तिकरण में हृष्टित्रिक देशोपशमना, निकाचना, निधत्ति

रहित होती है और हजारों स्थितिधात होने के बाद असंज्ञी पंचेन्द्रिय और चतुरिन्द्रियादि के तुल्य स्थितिसत्ता होती है।

एक-एक अन्तर में हजारों स्थितिखण्ड (घात) होते हैं। जिसमें दर्शनमोहनीय की पल्योपम के संख्यात्वमें भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। तब ऐसा होने पर (जो होता है उसको आगे कहते हैं)।

विशेषार्थ—इसी प्रकार स्थितिवन्ध के लिये भी समझना चाहिए। यानि अपूर्वकरण के प्रथम समय से चरम समय में जैसे संख्यात गुणहोन-स्थिति की सत्ता रहती है, उसी प्रकार स्थितिवन्ध भी अपूर्वकरण के प्रथम समय से चरम समय में संख्यातगुणहीन संख्यात्वमें भाग प्रमाण रहती है।^१

अपूर्वकरण पूर्ण होने के बाद अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। प्रवेश के प्रथम समय से ही लेकर अपूर्व गुणश्चेष्टि, अपूर्व स्थिति और रस का घात तथा अपूर्व स्थितिवन्ध होता है। अपूर्वकरण से इस कारण में अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम होने से और इस करण में दर्शनमोहनीयत्रिक का सर्वथा नाश होता है, इमलिये अपूर्व स्थितिधात आदि होते हैं।

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से लेकर दर्शनमोहनीय की नीनों प्रकृतियों में देशोपशमना, निकाचना और निधनि इन नीन करणों में से एक भी करण प्रवर्तित नहीं होता है तथा दर्शनमोहनीय की स्थितिगत्ता स्थितिधातादि में कम होते-होते हजारों स्थितिधात होने के बाद असंज्ञी पंचेन्द्रिय को स्थिति सत्ता के तुल्य होती है। उसके बाद पुनः हजारों स्थितिधात होने के बाद चतुरिन्द्रिय की स्थितिभूता के बराबर सत्ता होती है, उसके बाद भी उतने ही स्थितिधात होने के बाद श्रीन्द्रिय की स्थितिसत्ता के समान सत्ता होती है। तत्पश्चात् भी

^१ यद्यपि दर्शनमोहनीयत्रिक में से एक का भी वन्ध नहीं होता है, परन्तु जिन कर्मों का वन्ध होता है, उनका स्थितिवन्ध उक्त प्रमाण है।

हजारों स्थितिधात होने के बाद द्विन्द्रिय की स्थितिसत्ता के तुल्य स्थिति होती है और उसके बाद उसने ही हजारों स्थितिधात होते हैं तब एक-न्द्रिय की स्थितिसत्ता के बराबर सत्ता होती है। उसके बाद पुनः हजारों स्थितिधात होने के बाद पल्योपम के संख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति की सत्ता वाकी रहती है। यथा—

अनिवृत्तिकरण के प्रथम सभय से लेकर अन्तर-अन्तर में हजारों स्थितिधात होने के बाद अनुक्रम में जो असंज्ञिपञ्चन्द्रिय आदि के तुल्य स्थिति की सत्ता होती है और इस प्रकार से स्थिति घटते-घटते जब तीनों दर्शनमोहनीय की पल्योपम के संख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है, तब जो होता है, वह इस प्रकार है—

संखेज्जा संखिज्जा भागा खण्डइ सहस्रसो तेवि ।

तो मिच्छस्स असंखा संखेज्जा सम्ममीसाण ॥४१॥

शब्दार्थ— संखेज्जा संखिज्जा संखाना-संख्याता, भागा—भाग, खण्डइ—खण्ड करता है, सहस्रसो हजारों, तेवि—उनके भी, तो उसके बाद, मिच्छस्स—मिथ्यात्व के, असंखा—अनंख्यात, संखेज्जा—संख्यात, सम्ममीसाण—सम्यकत्व और मिथ के।

गाथार्थ (दर्शनमोहनीयत्रिक की पल्योपम के संख्यातवे भागप्रमाण स्थितिसत्ता होने के बाद) संख्याता-संख्याता भाग खण्ड करता है—उनके भी वैम हजारों खण्ड करता है। उसके बाद मिथ्यात्व के असंख्यात और सम्यकत्व तथा मिथ मोहनीय के संख्याता-संख्याता भाग प्रमाण स्थितिधात करता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयत्रिक की पल्योपम के संख्यातवे भाग-प्रमाण स्थिति की सत्ता जब होती है तब उस सत्तागत पल्योपम के संख्यातवे भागप्रमाण स्थिति के संख्याता भाग करके एक भाग रख शेष समस्त भागों का नाश करता है। इसी प्रकार जितनी स्थिति सत्ता में है, उसके संख्याता भाग करके एक भाग रख सबका नाश करता है।

फिर जितनी स्थिति अवशिष्ट है उसके संख्याता भाग कर एक भाग रख शेष सभी भागों का नाश करता है। इस प्रकार हृजार्थी स्थितिधात हो जाते हैं।

जब से पल्योपम के संख्यातवं भाग जितनी भृत्या हुई तब से अभी तक तीनों दर्शनमोहनीय की सत्तागत स्थिति के संख्याता-संख्याता भाग कर एक-एक भाग रख अवशिष्ट स्थिति का नाश करता था और अब इसके बाद मिथ्यात्वमोहनीय की सत्ता में जो स्थिति है, उसके असंख्याता भाग कर एक रख शेष समस्त स्थिति का नाश करता है और मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय के तो संख्याता-संख्याता भाग कर एक भाग रख शेष सभी भागों का नाश करता है। तथा—

तत्तो बहुखंडते खंडइ उदयावलीरहियमिच्छ ।

तत्तो असंख्यभागा सम्मानीसाण खंडेइ॥४२॥

बहुखंडते मीसां उदयावलिबाहिरं खिवइ सम्मे ।

अडवाससंतकम्मो दंसणमोहस्स सो खवगो॥४३॥

शब्दार्थ—तत्तो—उसके बाद, बहुखंडते—बहुत से खंडों के अन्त में, खंडइ—नाश करता है, उदयावलीरहियमिच्छ—उदयावलिका से रहित मिथ्यात्व को, तत्तो—तत्परचात्, असंख्यभागा—असंख्याता भाग, सम्मानीसाण—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के, खंडेइ—नाश करता है।

बहुखंडते—बहुत से खंडों के अंत में, मीस—मिश्रमोहनीय को, उदयावलिबाहिरं—उदयावलिका से ऊपर वे, खिवइ निक्षिप्त करता है, सम्मे—सम्यक्त्व में, अडवाससंतकम्मो—मोहनीय कर्म की आठ वर्ण की भृत्या बाला, दंसणमोहस्स—दर्शनमोहनीय का, सो वह, खवगो—क्षपक।

गायार्थ—उसके बाद बहुत मे खंडों के अन्त में उदयावलिका से रहित मिथ्यात्वमोहनीय का नाश करता है, उसके बाद मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय के असंख्याता भागों को खंडित करता है।

तत्परचात् बहुत से खंडों के अन्त में उदयावलिका से ऊपर के मिश्रमोहनीय के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में निश्चेप करता

है, उस समय सम्यकत्वमोहनीय की आठ वर्ष की सत्ता बाला वह दर्शनमोहनीय का क्षेपक कहलाता है।

विशेषार्थ इस रीति से मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तागत स्थिति के असंख्याता भाग करके एक भाग रख शेष सबका नाश करता है। इसी प्रकार जो स्थिति सत्ता में है, उसके असंख्याता भाग करके, एक भाग रख शेष सबका नाश करता है। इस क्रम से मिथ्यात्वमोहनीय का स्थितिधात करता हुआ बहुत से स्थितिधात होने के बाद उदयावलिका को छोड़कर शेष समस्त मिथ्यात्व की स्थिति का नाश करता है। उस समय मिश्र और सम्यकत्वमोहनीय की पल्योपम के असंख्यात्व भाग जितनी स्थितिसत्ता रहती है।

जिस-जिस स्थिति का घात होता है, उसके दलिकों की प्रक्षेप विधि इस प्रकार है—

जिन-जिन स्थितियों का घात होता है, उनमें के मिथ्यात्व के दलिकों को मिश्र तथा सम्यकत्वमोहनीय इन दोनों में निष्क्रिय करता है। मिथ्रमोहनीय के सम्यकत्वमोहनीय में निष्क्रिय करता है और सम्यकत्वमोहनीय के नीचे उदयसमय से लेकर गुणश्रेणि के क्रम से स्थापित करता है। मिथ्यात्वमोहनीय की जो उदयावलिका शेष रही है, उसको स्त्रियुक्तसंक्रम द्वारा सम्यकत्वमोहनीय में निष्क्रिय करता है।

मिथ्यात्वमोहनीय की जब से उदयावलिका शेष रही तब से मिश्र तथा सम्यकत्वमोहनीय की सत्तागत स्थिति के असंख्याता भाग करता है और एक भाग बाकी रख शेष समस्त भागों का नाश करता है तथा जो सत्ता में है उसके असंख्याता भाग करके एक भाग रख शेष सबका नाश करता है। इस प्रकार से कितने ही स्थितिधात जाने के बाद मिथ्रमोहनीय की एक उदयावलिका प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। उस समय सम्यकत्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। इस तरह उदयावलिका से ऊपर का मिथ्रमोहनीय का

समस्त दल नाश हो जाता है और उडगावनिका सम्यक्त्व में स्तिथक-
संक्रम द्वारा संक्रमित हो जाती है।

सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता वाला जीव
उस समय उसके समस्त विघ्न नष्ट होने से निश्चयनय के भत्तानुसार
दर्शनमोहनीय का क्षपक कहलाता है। विघ्नरूप सर्वधाति मिथ्यात्व
और मिश्रमोहनीय का तो सर्वधात किया और सम्यक्त्वमोहनीय का
अन्तमुहूर्त में धात करेगा। इसलिए वह निश्चयनय के मन से दर्शन-
मोहक्षपक कहलाता है तथा—

अंतमुहूर्तियखंडं तत्तो उक्तिरङ् उदयसमयाऽम् ।

निखिलवद्व असंख्यगुणं जा गुणसेढी परिहीणं ॥४४॥

शब्दार्थ— अंतमुहूर्तियखंड—अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड, तत्तो—उसके
बाद, उक्तिरङ्—उस्कीर्ण करता है, उदयसमयाऽम्—उदयसमय से, निखिलवद्व—
स्थापित करता है, असंख्यगुण—असंख्यात गुणाकार, जा—पर्यन्त, गुणसेढी—
गुणश्चेणि, परिहीण—हीन-हीन।

गाथार्थ—(सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता आठ वर्ष रहने के बाद)
उसके अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड करता है और उसके दलिकों
को उत्कीर्ण करके उदयसमय से लेकर असंख्यात गुणाकार रूप
से गुणश्चेणि शीर्ष पर्यन्त स्थापित करता है और उसके बाद हीन-
हीन स्थापित करता है।

बिशेषार्थ— जब से सम्यक्त्वमोहनीय को आठ वर्ष प्रमाण स्थिति
सत्ता हुई, तब से उसके अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड करके उसका
धात करता है और उसके दलिकों को उदयसमय में लेकर इस प्रकार
स्थापित करता है कि उदयसमय में अत्य, द्वितीय समय में असंख्यात-
गुण उसके बाद के समय में असंख्यातगुण। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान
में उत्तर-उत्तर स्थान असंख्यात-असंख्यात गुण गुणश्चेणि शीर्ष पर्यन्त—
गुणश्चेणि जितने स्थितिस्थानों में होती है उसके अन्तिम समय पर्यन्त—

स्थापित करता है। उसके बाद के समयों में—स्थितिस्थानों में हीन-हीन यावत् चरम स्थिति पर्यन्त स्थापित करता है मात्र जिसका स्थितिधात् होता है, वहाँ स्थापित नहीं करता है।

इसका आशय यह है कि दर्शनमोहनीय के क्षय के अधिकार में अकेली गुणश्रेणि जब होती है, तब दलिकों की रचना गुणश्रेणि शीर्ष तक ही होती है तथा उद्बलना और गुणश्रेणि दोनों जहाँ जुड़ी हुई होती हैं वहाँ गुणश्रेणि के शीर्ष तक पूर्व-पूर्व स्थान में उत्तर-उत्तर स्थान में असंख्यात्-असंख्यात् गुण दलिक स्थापित करता है और उसके बाद के स्थानों में जिनका स्थितिधात् होता है, उनकी छोड़कर शेष में हीन-हीन स्थापित करता है और जिनका स्थितिधात् होता है, वहाँ विलकुल स्थापित नहीं करता है। तथा—

उविकरह असंख्यगुणं जाव दुचरिमंति अन्तिमे खंडे ।

संखेज्जंसो खंडह गुणसेद्वीए तहा देइ ॥४५॥

शब्दार्थ—उविकरह— उत्कीर्ण करता है, असंख्यगुण—असंख्यात् गुण, जाव—यावत्, दुचरिमंति—द्विचरम खंड पर्यन्त, अन्तिमे खंडे—अन्तिम खंड में, संखेज्जंसो—संख्यातवे भाग, खंडह—खंड करता है, गुणसेद्वीए—गुणश्रेणि से, तहा—उसी प्रकार, देइ देता है।

गाथार्थ— प्रथम स्थितिखंड से उत्तरोत्तर स्थितिखंड असंख्यात्-असंख्यात् गुण बड़े-बड़े लेता हुआ यावत् द्विचरम स्थिति खंडपर्यन्त उत्कीर्ण करता है। चरम खंड संख्यात् गुण बड़ा है, अतिम स्थितिखंड खंडित करते गुणश्रेणि ने संख्यातवे भाग को खंडित करता है और गुणश्रेणि में देता है।

विशेषार्थ— सम्यक्तवमोहनीय की आठ वर्ष की सत्ता जब से रहती है, तब से स्थितिधात् अन्तमुहूर्त प्रभाण होता है। मात्र उत्तरोत्तर अन्तमुहूर्त असंख्यात् गुण-असंख्यात् गुण होते हैं। उनके दलिकों की पूर्वोक्त क्रम से उदयसमय से लेकर स्थापित करता है इस प्रकार पूर्व-पूर्व खंड की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यात् गुण बड़े-बड़े स्थिति खंड पर्यन्त उत्कीर्ण करता है।

द्विचरम स्थितिखण्ड से अन्तिम स्थितिखण्ड—स्थितिष्वात् संख्यात् गुण वडा है। अन्तिम स्थितिखण्ड को खंडित करते हए उसके साथ गुण-श्रेणि के संख्यातवे भाग को भी खंडित करता है और खंडित होते हुए उस गुणश्रेणि के संख्यातवे भाग के ऊपर को स्थिति उसकी अपेक्षा संख्यात् गुणी बढ़ी है। उसी चरमस्थितिखण्ड की स्थिति को उत्कीर्ण करता है। यानि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण चरम खण्ड के साथ गुणश्रेणि का जितना भाग उत्कीर्ण किया जाता है, उस भाग से उसके बाद उत्कीर्ण किया जाता चरमस्थितिखण्ड संख्यात् गुण वडा है। तात्पर्य यह कि गुणश्रेणि के संख्यातवे भाग के साथ सम्पूर्ण चरम खण्ड को उत्कीर्ण करता है और वह चरम खण्ड गुणश्रेणि के संख्यातवे भाग में संख्यात् गुण वडा है।

उसके दलिकों को उदयसमय से लेकर स्थापित करता है। उदय-समय में स्तोक, उसके बाद के उत्तरात्तर स्थान में गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त असंख्यात्-असंख्यात् गुण स्थापित करता है। चरमखण्ड का उद्वलित करते गुणश्रेणिशीर्ष न ऊपर स्थानों में दलिक विल्कुल स्थापित नहीं करता है। क्योंकि वही दलिक उत्कीर्णमाण हैं। इस प्रकार अन्तिम खण्ड का दलिक समाप्त हो तब वह अपक कृतकरण कहनाना है। कृतकरण अर्थात् जिसने करण पूर्ण किये हैं। क्योंकि यहाँ तो सरा अनिवृत्तिकरण पूर्ण होता है। तथा—

कथकरणो तत्काले कालंपि करेऽ चउसु वि गडमु ।

वेद्यसेसो सेढी अण्णपरं वा समारहइ ॥४६॥

शब्दार्थ—कथकरणो—कृतकरण, तत्काले—उसी समय, कालंपि—काल-मरण मी, करेऽ—करता है, अउसु—वारों, वि—ही, गडमु—मतियों में, वेद्यसेसो—शोर भाग की अनुभव करने वाला, सेढी—भ्रेणी, अण्णपरं—अ यत्वरं किसी एक, वा—अथवा, समारहइ—आपत करता है, आरोहण करता है।

गाथार्थ—कृतकरण— अनिवृत्तिकरण को पूर्ण कर लिया है, ऐसा कोई जीव काल भी करता है तो काल करके चारों गति में जाता है और यदि काल न करे तो सम्यक्त्वमोहनीय के शेष भाग को अनुभव करने वाला अन्यतर किसी एक श्रेणि पर आरोहण करता है।

विशेषार्थ—कृतकरण होता हुआ यानि कि अनिवृत्तिकरण पूर्ण करके कोई जीव काल भी करता है और यदि वह काल करे तो चारों में से किसी भी गति उत्पन्न हो सकता है। और सम्यक्त्वमोहनीय के शेष भाग को भोग कर क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करता है। इसीलिये कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व या प्रस्थापन—आप्तवत्—उत्पन्न करने की शुरुआत करने वाला मनुष्य ही है और निष्ठापक—पूर्ण करने वाले चारों गति के जीव हैं।^१ क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय का अन्तिम खण्ड नाश हुआ कि करण पूर्ण हुआ, परन्तु अन्तिम खण्ड का जो दलिक उदयसमय से लेकर गुणश्चेष्टिशीर्ष तक वथाक्रम से स्वापित किया गया है, वह अभी भोगना शेष रहता है। यहाँ आयु पूर्ण हुई हो तो मरकर परिणामानुसार जिस किसी गति में उत्पन्न होता है और सम्यक्त्वमोहनीय का शेष भाग भोगकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है। इसी कारण कहा है कि निष्ठापक चारों गति के जीव ही सकते हैं।

यदि उस समय काल न करे तो मनुष्य गति में ही सम्यक्त्व-

१ क्षायिक सम्यक्त्वी तीन नरक, वैमानिकदेव, असंस्थात वर्ष के आयु वाले तिर्यक या मनुष्य इस तरह चार में से किसी भी गति में परिणामानुसार उत्पन्न हो सकते हैं और जिसने संस्कार वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यक का, भवनपति व्यंतर ज्योतिः देव वा या आदि के तीन नरक के सिवाय शेष नरकों की आयु बांधी हो तो वे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

२ पद्मगो उ मणुस्सो निर्दृश्यगो होऽ चउसु वि गईसु ।

मोहनीय का मेष भाग अनुभव कर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करके क्षपक या उपशम श्रेणि में से किसी एक श्रेणि पर आरोहण करता है। यदि परभव की वंमानिक देव की ही आयु वाधी हो और बाद में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो तो ही उपशम श्रेणि पर चढ़ सकता है।

चार गति में से किसी भी गति का आयु नहीं वाधने वाला अब्द्यायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि अन्तमुहूर्त में ही क्षपक श्रेणि पर आरोहण करता है— क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर अन्तमुहूर्त काल में ही चारित्रभोहर्मीय की क्षणणा प्रारम्भ करता है और वंमानिक के मिवाव अन्य कोई आयु वाधी हो तो एक भी श्रेणि पर नहीं चढ़ सकता है।

क्षायिक सम्यक्त्वी कितनेवं भव में मोक्ष जाता है? अब इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्वी का मुक्तिगमन

तद्य चउत्थे तम्मि व भवंमि सिज्जंति दंसणे खीणे ।

जं देवनरयऽसंखाऽ चरमदेहेसु ते होति ॥४७॥

शब्दार्थ— तद्य चउत्थे— तीसरे, चौथे, तम्मि वा—अथवा उसी, जै—भव में, सिज्जंति—सिद्ध होते हैं, दंसण खीणे—दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद, जं—क्योंकि, देवनरयऽसंखाऽचरमदेहेसु—देव, नारक, असंख्यात वर्ष की आयु वालों या चरम देह में, ते—वे, होति—होते हैं।

गाथार्थ— दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद तीसरे, चौथे या उसी भव में मोक्ष में जाते हैं। क्योंकि देव, नारक, असंख्यात वर्ष की आयु वालों या चरम देह में वे होते हैं।

विशेषार्थ— दर्शनसातक का क्षय करने के बाद तीसरे, चौथे या उसी भव में जीव मोक्ष जाते हैं। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव, नारक या असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यक—मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं अथवा चरम शरीरी होते हैं। इसी कारण तीसरे, चौथे या उसी

भव में मोक्ष जाने का संकेत किया है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

देव या नारक की आयु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो देव या नारकों में जाकर मनुष्य हो मोक्ष में जाता है। उसने जिस भव में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया वह मनुष्य का भव, बाद में देव या नारक का भव और उसके बाद का मनुष्य भव इस तरह तीन भव होते हैं।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यच की आयु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो तो युगलिक में जाकर और वहाँ से देव में और फिर वहाँ से मनुष्य में जाकर मोक्ष में जाता है, उसे चार भव होते हैं। वे इस प्रकार—पहला मनुष्य का भव, दूसरा युगलिक भव, तीसरा देव और अन्तिम चौथा मनुष्य भव।

जिसने परभव की आयु बांधी ही नहीं है और क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो वह चरम शरीरी कहलाता है। वह तो क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद उसी समय चारित्रमोहनीय की अपाणा प्रारम्भ करता है और उसी भव में मोक्ष जाता है।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय की अपाणा का स्वरूप जानना चाहिए। अब चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वरूप कहते हैं और उसमें भी पहले उसके अधिकारी की योग्यता का निर्देश करते हैं।

चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वरूप

चारित्रमोहनीय की उपशमना का अधिकारी वैमानिक देव सम्बन्धी जिसने आयु बांधी हो वैसा क्षायिक सम्यवृद्धि अथवा वैमानिक देव सम्बन्धी आयु बांधी हो या न बांधी हो ऐसा वेदक सम्यवृद्धि है। जो वेदक सम्यक्त्व होते उपशम श्रेणि मांडता है—चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिए प्रयत्न करता है वह कितने ही आचारों के मतानुसार प्रथम अनन्तानुबन्ध की विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतिक

सत्ता वाला और कितने ही आचार्यों के मत से अनन्तानुबन्ध की उपशमना करके अट्ठाईस प्रकृतिक सत्ता वाला दर्शनमोहनीय उपशमित करता है। उसके बाद चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिए प्रयत्न करता है। अनन्तानुबन्ध की विसयोजना और उपशमना कैसे करता है, इसका पूर्व में संकेत किया जा चुका है।

इस प्रकार ने चारित्रमोहनीय की उपशमना के अधिकारी का संकेत करने के अनन्तर अब उसी प्रसंग में दर्शनश्रिक की उपशमना की विधि बतलाते हैं।

दर्शनश्रिक उपशमना विधि

अहवा दंसणमोहं पढमं उवसामइत् सामणे ।

ठिच्चा अणुदड्याणं पढमठिई आवली नियमा ॥४८॥

पढमुवसमंव सेसं अन्तमुहृत्ताउ तस्स विज्ञाओ ।

संकेसविसोहिओ पमत्तइयरत्तणं बहुसो ॥४९॥

शब्दार्थ— प्रहवा—अथवा, दंसणमोहं दर्शनमोह की, पढम—प्रथम, उवसामइत्—उपशमित करके, सामणे शमणाने में, ठिच्चा—रहकर, अणुदड्याणं—अनुदितों की, पढमठिई—प्रथम गियति, आवली—श्रावणिका मात्र, नियमा—नियम से।

पढमुवसमंव—प्रथमोपशम इत्, सेसं—प्रेष, अन्तमुहृत्ताउ—अन्तमुहृत्तं के बाद, तस्स—उसका (दर्शनश्रिक का), विज्ञाओ—विष्णवात्तरंकम, संकेसविसोहिओ—संस्कृत और विशुद्धि से, पमत्तइपरत्तणं परगत और इन्हर (अश्रमत) में, बहुसो—अनेक बार।

गाथार्थ— अथवा प्रथम श्रमणपने में रहकर दर्शनमोह की उपशमित करके चारित्रमोह को उपशमना करता है। अनुदित (मिथ्यात्व और मिथ्रमोहनीय की) प्रथम स्थिति आवलिका मात्र होती है।

शेष कथन प्रथमोपशमवत् जानता चाहिये । अन्तमुहूर्त के बाद दर्शनशिक का विद्यातसंप्राप्त प्रवर्तित होता है । संक्लेश और विशुद्धि से अनेक बार प्रभात और अप्रभात में जाता है ।

विशेषार्थ—वैमानिक देव की जिसने आयु दांधी है, ऐसा कोई जीव प्रथम अनन्तानुबन्धि क्षय करने के बाद दर्शनमोहृषि का क्षय करके क्षायिकसम्बल्त्व प्राप्त कर चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है । अथवा प्रथम अनन्तानुबन्धि का क्षय या उपशम करने के बाद दर्शनशिक को उपशमित करके भी कोई चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है । वह दर्शनशिक की उपशमना श्रमणपने में ही करता है । दर्शनशिक की उपशमना करते हुए यथाप्रवृत्ति आपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण होते हैं । मात्र अन्तरकरण करते अनुदित मिथ्यात्म और मिश्रमोहनीय की प्रथम स्थिति अनन्तानुबन्धि का मात्र और उदयप्राप्त सम्बल्त्वमोहनीय की प्रथम स्थिति अन्तमुहूर्त प्रमाण करता है । तीनों के अन्तरकरण के दलिकों की सम्बल्त्वमोहनीय की प्रथम स्थिति में डालता है तथा मिथ्यात्म और मिश्रमोहनीय के प्रथम स्थितिगत दलिक स्तिवृक्षसंक्रम द्वारा सम्बल्त्वमोहनीय की उदयावलिका में संक्रमित होते हैं । सम्बल्त्वमोहनीय का प्रथम स्थिति विषाकोदय द्वारा अनुभव करते क्षीण होती है तब औपशमिक सम्युक्तिपृष्ठि होता है । तीनों के द्वितीय स्थितिगत दलिकों को अनन्तानुबन्धि की तरह उपशमित करता है और शेष कथन प्रथमोपशम सम्बल्त्व की तरह समझ लेना चाहिए ।

जैव दर्शनशिक को उपशमित करते अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्म तथा मिश्रमोहनीय के दलिकों का सम्बल्त्वमोहनीय में

१ इन तीनों का स्वरूप पूर्व में मिथ्यात्म या अनन्तानुबन्धि की उपशमना के प्रबंग में कहा है, वैसा ही यही समझ लेना चाहिये ।

गुणसंक्रम होता था^१, वैसे अन्तरकरण में प्रवेश करने के बाद भी अन्त-मुहूर्त पर्यन्त गुणसंक्रम होता है। अन्तमुहूर्त बीतने के बाद गुणसंक्रम के अन्त में विद्यातसंक्रम होता है। विद्यातसंक्रम द्वारा मिश्र और मिथ्यात्म के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित करता है।

इस प्रकार से दर्शनमोहनीय का उपशम होने के बाद संक्लेश और विशुद्धि से प्रमत्तत्व और अप्रमत्तत्व का अनेक बार अनुभव कर प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त मुण्डान में जाकर चारित्रमोहनीय की उपशमना करने का प्रयत्न करता है। जिसका क्रम इस प्रकार है—

पुणरवि तिष्ठि कारणादृं करेऽ तद्यथं मि एत्य पुण भेऽो ।

अन्तोऽकोडाकोडी बन्धं संतं च सन्तष्टं ॥५०॥

शब्दार्थ—पुणरवि—पुनः भी, तिष्ठि करादृं—तीन करण करेऽ—करता है, नद्यथंमि—तीनरे में, एत्य—यहाँ, पुण—पुनः, भेऽो—भेद, अन्तर, विशेष, अन्तोऽकोडाकोडी—अन्तःकोडाकोडी, बन्धं—बन्ध, संतं—सत्ता, च—और, सन्तष्टं—सात कमों का।

गाथार्थ—चारित्रमोहनीय को उपशमना करते पुनः भी तीन करण करता है। तीसरे करण में यह विशेष है कि वहाँ सात कमों का बन्ध और सत्ता अन्तःकोडाकोडी सापरोपम प्रमाण करता है।

विशेषार्थ—चारित्रमोहनीय की उपशमना करता जीव भी यथा-प्रवृत्ता आदि तीन करण करता है। उनमें से यहाँ चारित्रमोहनीय की

^१ यहाँ सामान्यतः मिथ्यात्म और मिथ का सम्यक्त्व में मंक्रम होता है ऐसा संकेत किया है लेकिन मिथ्यात्म का मिश्र में भी हसीःकार मंक्रम होता है यह भी जानना चाहिये।

उपशमना करते सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में यथाप्रवृत्त^१ आठवें में अपूर्वकरण और नौवें गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण जानना चाहिए। अपूर्वकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, अब्रध्यमान समस्त अनुभवगृहियों का गुणसंज्ञन वैरलदूर्दि शिष्टिवद्य पूर्व की तरह होता है।

अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघात आदि पाँचों घट प्रवृत्त होते हैं। इस करण में दूसरी विशेषता इस प्रकार है—अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में आयु के सिवाय सात कर्मों का बन्ध और सत्ता अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण करता है। यद्यपि इससे पूर्व हुए अपूर्वकरणादि करणों में भी उतना ही बंध और सत्ता होती है, लेकिन उस बन्ध और सत्ता से नींव गुणस्थान का बन्ध और सत्ता असंख्यातगुणहीन यानि असंख्यात भाग प्रमाण समझना चाहिए तथा यद्यपि यहाँ बन्ध और सत्ता समान मात्रम होती है, किन्तु बन्ध की अपेक्षा सत्ता अधिक समझना चाहिये।^२ तथा—

ठिठ्खंडं उक्कोसंपि तस्स पल्लस्स संख्तमभागं ।

ठितिखंडं बहु सहस्रे एककेवकं जं भणिस्सामो ॥५१॥

शब्दार्थ—ठिठ्खंड—स्थितिघात, उक्कोसंपि—उत्कृष्ट से भी, तस्स—उभका, पल्लस्स—पल्लोपम का, संख्तमभाग—संख्यात्मक भाग, ठितिखंड—स्थितिघात, बहु सहस्रे—अनेक हजारों, एककेवकं—एक-एक में, जं जो, भणिस्सामो—कहुँगा।

^१ दर्शनत्रिक की उपशमना करने के बाद और चारित्रमाहनीय की उपशमना करते हजारों वार प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में जाता है, उसके बाद अपूर्वकरण में। इसमें अन्तिम वार जो अप्रमत्तत्व प्राप्त होने के बाद अपूर्वकरण में प्रवेश करता है, उस अप्रमत्तत्व को चारित्रमाहनीय की उपशमना करते यथाप्रवृत्तकरण के रूप में समझना चाहिये।

^२ ‘कर्मप्रकृति’ में सत्ता और बन्ध सामान्य से अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण कहा है।

गायार्थ—इस गुणस्थान में—नीवें गुणस्थान में—स्थितिधात उत्कृष्ट से भी पल्योपम के संख्यात्वे भाग प्रमाण ही होता है। अनेक हजारों स्थितिधात होने के बाद एक-एक कर्म में जो कुछ करता है, उसे आगे कहूँगा।

विशेषार्थ—नीवें गुणस्थान में उत्कृष्ट से भी पल्योपम के संख्यात्वे भी प्रमाण ही स्थितिधात होता है तथा जो बन्ध होता है, उसमें भी पल्योपम के संख्यात्वे भाग कम-कम करके अन्य स्थितिबन्ध चारता है तथा यद्यपि सामान्यतः सातों कर्मों का स्थितिधात पल्योपम के संख्यात्वे भाग प्रमाण कहा है, तथापि सत्ता में अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता उनके अल्पस्थिति वाले होने में अल्प है, उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की अधिक है, परन्तु तुल्यस्थिति वाले होने से स्वस्थान में परम्पर तुल्य है, उनसे मोहनीय कर्म की सत्ता अधिक है। क्योंकि जिसकी स्थिति अधिक है, उसकी सत्ता भी अधिक और जिसकी स्थिति अल्प उसकी सत्ता भी अल्प होती है। यद्यपि सामान्यतः सत्ता अन्तःकोड़ाकोड़ी है, लेकिन वह अल्पाधिक होती है, वह उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है।

अब अनेक हजारों स्थितिधात जाने के बाद एक-एक कर्म के सम्बन्ध में जो कुछ भी करता है, उसको स्पष्ट करते हैं—

करणस्स संख्यागे सेसे य असणिणमाहयाण समो ।

बंधो कमेण पल्लं वीसग तीसाण उ दिवद्धं ॥५२॥

शब्दार्थ—करणस्स—अनिवृत्तिकरण का, संख्यागे सेसे—संख्यात्वा भाग शेष रहने पर, य—और, असणिणमाहयाण—अभंगी आदि के, समो—समान, बन्धो—बन्ध, कमेण—कम में, पल्लं—पल्लोपम, वीसग—वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले नाम शेष का, तीसाण—तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्मों का, दिवद्धं—डेड़।

गायार्थ—अनिवृत्तिकरण का जब संख्यात्वां भाग शेष रहे

तब क्रम से घटते हुए असंजी आदि के समान बंध होता है। उसके बाद बीस कोडाकोडी की उत्कृष्ट स्थिति वाले नाम, गोत्र का एक पल्योपम और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्मों का डेढ़ पल्योपम का बंध होता है।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण के संख्याता भाग जायें और एक भाग शेष रहे तब असंजी पञ्चेन्द्रिय के स्थितिबंध के समान स्थितिबंध होता है। उसके बाद और भी बहुत से स्थितिधात हो जाने के बाद चतुरिन्द्रिय के स्थितिबंध के तुल्य स्थितिबंध होता है। इसके बाद बहुत से स्थितिधात होने के बाद त्रिन्द्रिय के स्थितिबंध के तुल्य स्थिति बंध होता है। इसी तरह बहुत से स्थितिधात जाने के बाद द्विन्द्रिय के स्थितिबंध के बराबर स्थितिबंध होता है। इसके बाद बहुत से स्थितिधात जाने के बाद एकेन्द्रिय के स्थितिवंह के तुल्य स्थितिबंध होता है। उसके बाद हजारों स्थितिबंध होने के अनन्तर बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म का पल्योपमप्रमाण और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्म का डेढ़ पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध होता है।

ऊपर जो प्रत्येक स्थान पर हजारों स्थितिधात जाने के बाद और अतिम स्थितिबंध होने के बाद यह कहा है तो उसमें ऐसा समझना चाहिये कि जितने-जितने स्थितिधात होते हैं, उतने अपूर्व-अपूर्व स्थितिबंध होते हैं। क्योंकि स्थितिधात और स्थितिबंध साथ ही प्रारम्भ करता है और साथ ही पूर्ण करनया आरम्भ करता है। जैसे सत्ता में से स्थिति कम होती है, वैसे ही बंध में से भी कम होती है। सत्ता में से स्थितिधात द्वारा और बंध में से अपूर्व स्थितिबंध करते-करते कम होती है। तथा—

मोहस्स दोष्णि पहला संतोषि हु एवमेव अपनहूँ।

पलियमित्तमि बंधे अणो संखेज्जगुणहीणो ॥५३॥

शब्दार्थ—भोहस्स—मोहनीय का, बोधिष पल्ला—दो पल्योपम, सतेवि—सत्ता में भी, हुँ ही, एवमेव—इसी प्रकार, अप्पनहु—अत्यबहुत्व, पत्रिय-मित्तिमि—पत्योपममात्र, बंधे—बंध में, अप्पो—अन्य, संख्यातगुणहीन—संख्यातगुणहीन।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म का दो पल्योपम स्थितिबन्ध होता है। सत्ता में भी इसी प्रकार से अत्यबहुत्व जानना चाहिये। पल्योपम मात्र स्थितिबन्ध होने के बाद अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणहीन होता है।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म का दो पल्योपम का स्थितिबन्ध होता है। सत्ता में स्थिति का अत्यबहुत्व बंध के क्रमानुसार ही जाना चाहिये। यानि जिसका स्थितिबन्ध अधिक उसकी सत्ता अधिक और जिसका स्थितिबन्ध कम उसकी सत्ता कम जानना चाहिये। वह इस प्रकार—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वैदनीय और अंतराय की विशेषाधिक, उससे मोहनीय की अधिक है तथा जिस-जिस कर्म का जब-जब पल्योपम प्रमाण स्थितिबन्ध हो, उस-उस कर्म का उस समय से लेकर अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणहीन संख्यातवे भाग प्रमाण होता है। इसीलिये नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबन्ध पल्योपम प्रमाण जब हुआ, उसके बाद का अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणहीन होता है। योष कर्मों का तो अन्य-अन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के संख्यातवे भागहीन होता है। इसके बाद जो होता है, वह इस प्रकार है—

एवं तीसाण पुणो पल्लं मोहस्स होइ उ दिवद्वं ।

एवं मोहे पल्लं सेसाणं पल्ससंख्सो ॥५४॥

शब्दार्थ—एवं—इसी प्रकार, तीसाण तीर्ग कोडाकोडी भागरोपम स्थिति बालों का, पुणो—पुनः, पल्लं—पल्योपम, मोहस्स—मोहनीय का, होइ—होता है, उ—और, दिवद्वं—द्वे, एवं—इसी प्रकार, मोहे—मोहनीय

का, पल्ल-- पल्योपम, सेसाण— शेष का, पल्लत्खंसो पल्योपम का संख्यात्वं भाग ।

ग्राथार्थ—इसी प्रकार तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरणादि का पल्योपम स्थितिबन्ध होता है और मोहनीय का डेढ़ पल्य । उसके बाद इसी प्रकार मोहनीय का पल्योपम स्थितिबन्ध होता है और शेष कर्मों का पल्योपम के संख्यात्वं भाग प्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

बिशेषार्थ-- मोहनीयकर्म का दो पल्योपम स्थितिबन्ध होने के बाद हजारों अपूर्व स्थितिबन्ध होने के अनन्तर तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म का एक पल्योपम और मोहनीय का डेढ़ पल्योपम स्थितिबन्ध करता है । ज्ञानावरणादि का पल्योपम का स्थितिबन्ध होने के बाद का अन्य स्थितिबन्ध संख्यात् गुणहीन होता है । मोहनीय का तो पल्योपम के संख्यात्वं भाग हीन होता है । मोहनीय का डेढ़ पल्योपम स्थितिबन्ध होने के बाद हजारों अन्य स्थितिबन्ध होने के अनन्तर मोहनीय का स्थितिबन्ध भी पल्योपम प्रमाण होता है और उसके बाद का मोहनीय का भी अन्य स्थितिबन्ध संख्यात् गुणहीन यानि पल्योपम के संख्यात्वं भाग प्रमाण मात्र होता है । जिस समय मोहनीय का पल्योपम प्रमाण स्थितिबन्ध होता है, उस समय शेष कर्मों का अन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के संख्यात्वं भाग प्रमाण होता है । तथा—

बीसगतीसगमोहाण संतयं जहृकमेण संखगुणं ।

पल्ल असंखेज्जंसो नामगोयाण तो बंधो ॥५५॥

शब्दार्थ—बीसगतीसगमोहाण बीम और तीम कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालों और मोहनीय की, संतयं सत्ता, जहृकमेण—अनुक्रम से, संखगुणं संख्यात् गुणी, पल्ल असंखेज्जंसो—पल्योपम के असंख्यात्वं भाग, नामगोयाण—नाम और गोप का, तो—तो, बंधो बन्ध ।

ग्राथार्थ—बीस और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालों और मोहनीय की सत्ता अनुक्रम से संख्यात् गुणी होती है और उसके बाद नाम और गोप कर्म का स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यात्वं भाग प्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—जब मोहनीयकर्म का स्थितिबन्ध पल्योपम प्रमाण होता है तब तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले, तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले और मोहनीय, इन सब कर्मों की स्थितिसत्ता अनुक्रम से संख्यातगुण होती है। वह इस प्रकार—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की संख्यात गुणी, किन्तु स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उनसे मोहनीय की संख्यातगुणी है।

मोहनीयकर्म का पल्योपम प्रमाण स्थितिबन्ध जब हुआ, उसके बाद का नाम गोत्र कर्म का अन्य स्थितिबन्ध अपने पहले के बन्ध से असंख्यात गुणहीन होता है। अर्थात् मात्र पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण बन्ध होता है।

यहीं सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प और परस्पर तुल्य, उसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उनसे मोहनीय की सत्ता संख्यातगुणी है। तथा—

एवं तीसाणंपि हु एकपहारेण मोहणीयस्त् ।

तीसग्रसंख्यभागो ठितिबन्धो संतयं च भवे ॥५६॥

शब्दार्थ—एवं—इसी प्रकार, तीसाण तीस कोडाकोडी की स्थिति वाले कर्मों का भी, एकपहारेण—एक प्रहार से, मोहणीयस्त्—मोहनीय का, तीसग्रसंख्यभागो—तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों का असंख्यातवा भाग, ठितिबन्धो—स्थितिबन्ध, संतयं—सत्ता, च—और, भवे—होती है।

गाथार्थ—इसी प्रकार नाम और गोत्र के क्रम से तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों का भी पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिबन्ध होता है। उसके बाद एक ही प्रहार से मोहनीय का पल्योपम का असंख्यातवा भाग स्थिति-

बंध होता है। वह स्थितिबंध तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालों का असंख्यातवें भाग होता है। जैसा बंध बंसी सत्ता भी होती है।

विशेषार्थ—इसी प्रकार नाम और गोत्र कर्म के क्रम से—नाम और गोत्र कर्म का असंख्यातगुणहीन बंध होने जै अनन्तर हुलारों स्थिति-बंध हो जाने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय का स्थितिबंध अपने पूर्व स्थितिबंध से असंख्यातगुणहीन होता है, धानि उसके असंख्यातवें भागप्रभाण होता है। इस समय सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार होता है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की असंख्यात गुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य उससे मोहनीय की सत्ता असंख्यात गुणी होती है।

तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंध हो जाने के अनन्तर एक ही प्रहार से अर्थात् एकदम मोहनीयकर्म का पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रभाण बंध होता है और वह भी ज्ञानावरणादि से असंख्यात गुणहीन होता है। अभी तक जो ज्ञानावरणादि की अपेक्षा मोहनीय का असंख्यातगुणा बंध होता था अब मोहनीय से ज्ञानावरणादि का असंख्यातगुणा बंध होने लगता है।^१ सत्ता में भी इसी प्रकार से परिवर्तन होता है। तब सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र की सत्ता अल्प, उससे मोहनीय की सत्ता असंख्यात गुणी, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की सत्ता असंख्यात गुणी होती है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। तथा—

^१ पहले ज्ञानावरणादि से मोहनीय की सत्ता और वंश असंख्यात गुणा होता था, किन्तु अब प्रबल शुद्ध अङ्गवशायों के कारण एकदम सत्ता में से बड़ा स्थितिघात करके रहता कर्म कर देता है। इसी प्रकार बन्ध में से स्थिति घटाकर बंध भी करता है। जिससे मोहनीय के बन्ध और सत्ता से ज्ञानावरणादि का बन्ध और सत्ता असंख्यातगुण होती है।

बीसग असंख्यभागे मोहं पच्छा उ धाइ तइयस्स ।

बीसग तओ धाई असंख्यभागम्मि बज्जंति ॥५७॥

शब्दार्थ—बीसग—बीस कोडाकोडी सागरोपम के बंध वालों, असंख्यभागे—असंख्यातवें भाग, मोहं—मोहनीय कर, पच्छा—दाद में, उ—और, धाइ—धाति कर्म, तइयस्स—तीसरे कर्म के, बीसग -बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों से, तओ—फिर, धाई—धाति कर्म, असंख्यभागम्मि—असंख्यातवें भाग, बज्जंति—बंधते हैं ।

गाथार्थ—बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों (नाम और गोत्र) के बन्ध के असंख्यातवें भाग मोहनीय का बन्ध होता है । बाद में तीसरे कर्म से नीचे धाति कर्म जाते हैं । उसके बाद बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों (नाम और गोत्रकर्म) के असंख्यातवें भाग धातिकर्म बंधते हैं ।

विशेषार्थ—बंध और सत्ता में से बहुत सी स्थिति कर्म होकर मोहनीयकर्म का ज्ञानावरणादि से असंख्यातगुणहीन स्थितिबन्ध और सत्ता होने के अनन्तर हजारों स्थितिबन्ध होने के बाद तथा एक साथ बन्ध में से स्थिति कर्म होकर उसका नाम गोत्र के नीचे असंख्यातगुणहीन बन्ध होता है । यानि नाम और गोत्र के बन्ध से असंख्यातगुणहीन मोहनीय का बन्ध होता है । तब—

स्थितिबन्ध की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—मोहनीय का स्थितिबन्ध अल्प, उससे नाम और गोत्र कर्म का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य बन्ध होता है ।

इसके बाद पुनः हजारों स्थितिबन्ध होने के अनन्तर वेदनीय के नीचे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का बन्ध होता है । अर्थात् वेदनीय से उनका बन्ध असंख्यातगुणहीन होता है । अभी तक उन चारों का बन्ध तुल्य होता था । तब—

स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

मोहनीय का स्थितिबन्ध अल्प, उससे नाम गोत्र कर्म का असंख्यात-गुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य तथा उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का असंख्यातगुण, स्वस्थान में परस्पर तुल्य और उससे वेदनीय का असंख्यातगुण बन्ध होता है।

इसके बाद हजारों स्थितिबन्ध हों जाने के अनन्तर वीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बाले नाम और गोत्र कर्म के असंख्यातवै भाग ज्ञानावरण आदि तीन कर्मों का स्थितिबन्ध होता है। अभी तक नाम और गोत्र के बंध से असंख्यातगुण ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का बन्ध होता था, किन्तु अब ज्ञानावरणादि तीन कर्मों से नाम और गोत्र कर्म का असंख्यातगुण बन्ध होता है। यहाँ अल्पबहुत्व इस प्रकार है—मोहनीय कर्म का स्थितिबन्ध अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे भी नाम और गोत्र कर्म का असंख्यात गुण और स्वस्थान में तुल्य, उससे वेदनीय कर्म का असंख्यातगुण^१ स्थितिबन्ध होता है। इस प्रकार से बन्ध के अनुरूप सत्ता सम्बन्धी अल्पबहुत्व भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि बन्ध में से स्थिति कम होने के समान ही सत्ता में से भी कम होती है। तथा—

असंख्यसमयबद्धाणुदीरणा होइ तंमि कालमिम् ।

देसघाइरसं तो मणपञ्जजव अन्तरायाणं ॥५८॥

शब्दार्थ—असंख्यसमयबद्धाणुदीरणा—अगम्यान समय तक के बंधे हुए कर्म की उदीरणा, होइ—होती है, तंमि—उस, कालमिम्—काल में, देसघाइरसं—देशघाति रस, तो—इसके बाद, मणपञ्जजवअन्तरायाण—मनवर्धीय ज्ञानावरण और अन्तरायकसं का।

गाथार्थ—उस समय असंख्यात समय तक के बंधे हुए कर्म की ही उदीरणा होती है। उसके बाद हजारों स्थितिघात

१ 'कर्म प्रकृति' में वेदनीय का विशेषाधिक स्थितिबन्ध बताया है।

होने के अनन्तर मनपर्यायज्ञानावरण और !(दान) अन्तराय का देशधाति रस बंध होता है।

विशेषार्थ—जिस समय सभी कर्मों का पल्योपम ना असंख्यातवा भाग प्रमाण स्थितिबंध होता है, उस समय असंख्यात समय के बचे हुए कर्मों की ही उदीरणा होती है। इसका कारण यह है कि जो प्रकृति बंधती है, उसकी स्थिति की अपेक्षा जो समयादि च्यून सत्तागत स्थितियाँ हैं, वे ही उदीरण को प्राप्त होती हैं, दूसरी नहीं। क्योंकि दीर्घ काल की बंधी हुई स्थितियाँ लगभग क्षय हो गई होती हैं, इसीलिए असंख्य समय के बचे हुए कर्मों की ही उस समय उदीरण होती है। उसके बाद हजारों स्थितिबंध होने के अनन्तर मनपर्यायज्ञानावरण और दानान्तराय का देशधाति रस बंधता है। तथा—

लाहोहीणं पच्छा भोगअचक्षुसुयाणं तो चक्षु ।

परिभोगमइणं तो विरियस्स असेहिगा धाई ॥५६॥

शब्दार्थ—लाहोहीणं—लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण, पच्छा—पश्चात्, भोगअचक्षुसुयाणं—भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण, श्रुतज्ञानावरण, तो—उसके बाद, चक्षु—चक्षुदर्शनावरण, परिभोगमइणं—उपभोगान्तराय, मतिज्ञानावरण, तो—पश्चात्, विरियस्स—वीर्यान्तराय कर्मका, असेहिगा—श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुए, धाई—मध्येति ।

गाथार्थ—पश्चात् लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का, उसके बाद भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण और श्रुतज्ञानावरण का, उसके बाद चक्षुदर्शनावरण का देशधाति रस बंध करता है, उसके बाद उपभोगान्तराय और मतिज्ञानावरण का और उसके बाद वीर्यान्तराय का देशधाति रसबंध करता है। किन्तु श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुए सर्वधाति रस ही बोधते हैं।

विशेषार्थ—मनपर्यायज्ञानावरण और दानान्तराय का देशधाति

रस होने के बाद हजारों स्थितिवन्ध व्यतीत होने के अनन्तर लाभान्तरराय, अवांधिशानावरण, अवांधिदर्शनावरण का देशधाति रस बांधता है तत्पश्चात् संख्याता हजार स्थितिवन्ध व्यतीत होने के बाद भोगान्तरराय, अचक्षुदर्शनावरण और श्रुतज्ञानावरण का देशधाति रसवन्ध करता है। उसके बाद संख्याता हजार स्थितिवन्ध होने के अनन्तर चक्षुदर्शनावरण का देशधाति रसवन्ध करता है। उसके बाद हजारों वन्ध होने के अनन्तर उपभोगान्तरराय और भतिज्ञानावरण का देशधाति रसवन्ध करता है, तत्पश्चात् हजारों स्थितिवन्ध व्यतीत हो जाने के अनन्तर वीयन्तिराय का देशधाति रसवन्ध करता है। किन्तु क्षपकश्रेणि या उपशमश्रेणि में से किसी भी श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुए जीव उपर्युक्त सभी प्रकृतियों का रस सर्वधाति ही बांधते हैं। तथा

संजमधाईण तओ अंतरमुदओ उ जाण दोष्हं तु ।

वेयकसायण्यरे सोदयतुल्ला उ पढमटिठई ॥६०॥

शब्दार्थ—संजमधाईण—गयम धाति प्रकृतियों का, तओ—तत्पश्चात्, अंतरं—अंतरकाण, उदओ—उदय, उ—और, जाण—विश्वका, दोष्हं तु और दोनों, वेयकसायण्यरे—वेद और कथाय में से अन्तर का, सोदयतुल्ला—स्वोदय तुल्य, उ—और, पढमटिठई—प्रथम स्थिति ।

गाथार्थ—तत्पश्चात् संयमधाति प्रकृतियों का अन्तरकरण होता है। वेद और कथाय इन दोनों में से जिसका उदय हो उनकी प्रथम स्थिति स्वोदय तुल्य है।

विशेषार्थ—वीयन्तिराय कर्म का देशधाति रस होने के बाद संख्यात हजारों स्थितिवन्ध होने के अनन्तर चारिच का धात करने वाली अनन्तानुवन्धि कथायों को छोड़कर दोष बारह कथाय और नवनोकथाय इन इकींस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। उसमें संज्वलन की चार कथायों में से किसी एक का और तीन वेद में से किसी एक का इस तरह दो प्रकृतियों का उदय होता है, जिससे उन दो प्रकृतियों की प्रथम स्थिति अपने उदय काल जितनी करता है। यानि

उन प्रकृतियों का नौवें गुणस्थान के जिस समय तक उदय होता है, उतनी प्रथम स्थिति करता है। दूसरी शेष रही ग्यारह कथाय और आठ नोकथाय कुल उन्नीस प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका जितनी करता है।

यहाँ जो बारह कथाय और नवनोकथाय इन इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है, कहा है उसका आशय यह है कि अन्तरकरण यानि उपशम भाव का सम्यक्त्व या चारिन्न जितने काल रहता ही, लगभग उतने काल में भोगे जायें उतने दलिकों को वहाँ ने बिलकुल दूर कर उतनी (अन्तमुहूर्त प्रमाण) भूमि साफ करना।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह अन्तरकरण किया इक्कीस प्रकृतियों की साथ ही होती है या ब्रह्मपूर्वक? यदि लाथ ही होती है यानि उन्नीस अनुदयवती प्रकृतियों की एक आवलिका प्रमाण स्थिति छोड़कर और उदयवती प्रकृतियों में उदयसमय से लेकर अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थिति छोड़कर उसके बाद के अन्तमुहूर्त में भोगे जायें उतने दलिक एक स्थितिधात जितने काल में एक साथ ही दूर होते हैं तो यह अर्थ हुआ कि उन्नीस प्रकृतियों के आवलिका में ऊपर के और उदयवती प्रकृतियों के अन्तमुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति से ऊपर के अन्तमुहूर्त प्रमाण काल में भोगे जायें उतने दलिक दूर करता है। जिससे उतनी भूमिका इक्कीस प्रकृतियों की एक साथ साफ हो गई। यदि ऐसा हो तो जिन-जिन प्रकृतियों की गुणश्रेणियां चालू हैं, उन-उनकी गुणश्रेणि—दल रखना कैसे हो?

इसका उत्तर यह है कि उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जैसे मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका शेष रहती है तब गुणश्रेणि बंद हो जाती है, यह कहा है; उसी प्रकार यहाँ भी अन्तरकरण किया करके जिन प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण रखता है, उनकी उसी समय और जिन उदयवती प्रकृतियों की प्रथम स्थिति उदयकाल प्रमाण अन्तमुहूर्त रखता है, उनकी प्रथम

स्थिति दो आवलिका प्रमाण वाकी रहे तब गुणश्रेणि बंद हो जाती है और प्रथम गुणश्रेणि द्वारा अन्तरकरण के अमुक भाग में जो दलिक रखना हुई थी वह भी अन्तरकरण के साथ ही दूर हो जाती है। इस तरह इसकी अनुष्ठियों की अन्तरकरण करने की क्रिया एक ही साथ प्रारम्भ होती है और समाप्त भी साथ ही होती है।

कदाचित् यही यह प्रश्न हो कि इस्कीस प्रकृतियों में से उन्नीस प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण होती है, जिससे उसके बाद के अन्तरकरण किये गये अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान में दलिक नहीं होते हैं तो फिर क्रोधोदय में श्रेणि मांडनेवाले को मान, माया लोभ आदि का बाद में क्रमशः उदय कहाँ से हो ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे क्षयक श्रेणि में क्रोधोदय में श्रेणि मांडनेवाले के क्रोध को प्रथम स्थिति एक आवलिका शैय रहे तब मान आदि तीन का अन्तरकरण हुआ होने से वहाँ दलिक हैं ही नहीं किन्तु दूसरी स्थिति में वर्तमान मान के दलिकों को आकर्षित कर नीचे लाकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में भोग जायें, उत्तमी प्रथम स्थिति बनाकर वेदन करता है और मान की प्रथम स्थिति एक आवलिका रहे तब माया की और माया की प्रथम स्थिति एक आवलिका रहे तब लोभ की द्वितीय स्थिति में से दलिकों को खींचकर अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण अनुक्रम से माया और लोभ की प्रथम स्थिति बनाता है और वेदन करता है। उसी प्रकार उपशम श्रेणि में भी क्रोधोदय से श्रेणि मांडनेवाले के क्रोध की प्रथम स्थिति एक आवलिका वाकी रहे तब मान का अन्तरकरण क्रिया होने से वहाँ दलिक नहीं हैं, परन्तु मान की ऊपर की स्थिति में से दलिकों को नीचे लाकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति बनाकर वेदन करता है। इसी प्रकार माया और लोभ के लिये भी समझना चाहिये और क्षयक श्रेणि की तरह उपशम श्रेणि में भी ऐसा ही करने का कारण जीव स्वभाव है।

अब संज्ञलन कषायचतुष्क और वेदात्रिक का स्वोदय काल बतलाते हैं—

थीअपुमोदयकाला संखेज्जगुणा उ पुरिसवेयस्स ।

तस्सवि विसेसअहिओ कोहे तत्तोवि जहकमसो ॥६१॥

शब्दार्थ—थीअपुमोदयकाला—स्त्रीवेद, नपुंसक वेद के काल से, संखेज्जगुणा—संख्यातगुणा, उ—और, पुरिसवेयस्स—पुरुषवेद का, तस्सवि उससे भी, विसेसअहियो विशेषाधिक, कोहे फोध का, तत्तोवि—उससे भी, जहकमसो अनुक्रम से मान आदि का ।

गाथार्थ—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदयकाल से पुरुषवेद का उदय काल संख्यातगुणा है, उससे क्रोध का और उससे भी मान आदि तीन का अनुक्रम से विशेषाधिक-विशेषाधिक है ।

विशेषार्थ—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उदयकाल पुरुषवेद के उदयकाल की अपेक्षा अल्प है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उससे पुरुषवेद का उदयकाल संख्यातगुणा है : उस पुरुषवेद के उदयकाल से संज्वलन क्रोध का उदय काल विशेषाधिक है, उससे अनुक्रम से मान, माया और लोभ का उदयकाल विशेषाधिक-विशेषाधिक है ।

प्रश्न—संज्वलन क्रोधादि का उदय कहाँ तक होता है ?

उत्तर—संज्वलनक्रोध के उदय में उपशमनश्रेणि स्वीकार करने वाले को जब तक जहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम नहीं होता है, तब तक संज्वलनक्रोध का उदय होता है । संज्वलनमान के उदय में श्रेणिआरम्भ करने वाले के जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम नहीं हुआ होता है, तब तक संज्वलनमान का उदय होता है । संज्वलन-माया के उदय से श्रेणि आरंभक के, जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया शांत न हो गई हो, तब तक संज्वलन माया का उदय होता है और संज्वलन लोभ के उदय में श्रेणि-आरंभक के जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम न हो तब तक वादर संज्वलन लोभ का उदय होता है । वादर लोभ को

शात करके सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में जाता है। इस प्रकार अन्तरकरण ऊपर की अपेक्षा समान स्थिति वाला है और अधोभाग की अपेक्षा उचत न्याय से विषय स्थिति वाला है। तथा—

अंतरकरणेण समं ठितिखंडगबंधगद्वनिष्फत्ति ।

अंतरकरणाणंतरसमए जायति सत्ता इमे ॥६२॥

एगद्वाणाणुभागो बंधो उदीरणा य संखसमा ।

अणुपुव्वी संकमणं लोहस्स असंकमो मोहे ॥६३॥

बद्धं बद्धं छमु आवलीमु उवरेणुदीरणं एह ।

पंडगवैउवसमणा असंखगुणणाइ जावेतं ॥६४॥

शाहदार्थ—अंतरकरणेणसमं—अंतरकरण के साथ, ठितिखंडगबंधगद्वनिष्फत्ति—स्थितिधात, अपूर्व स्थितिबंध की निष्फत्ति, अंतरकरणाणंतरसमए—अंतरकरण के अनन्तर समय में, जायति—होते हैं, सत्ता—सात, इमे—एह।

एगद्वाणाणुभागो—एकस्थानक रसबंध, बंधो—स्थितिबद्धं, उदीरणा—उदीरणा, य—और, संखसमा—संख्यात वर्ष के बराबर, अणुपुव्वीसंकमण—आनुपुव्वी-संकमण, लोहस्स—लोभ का, असंकमो—मंत्रमण का अभाव, मोहे—मोहनीय कर्म में।

बद्धं बद्धं छमु आवलीमु—बद्धे हुए दलिक की छह आवलिका, उवरेणुदीरण—जाने के बाद उदीरणा, एह—होती है, पंडगवैउवसमणा—नपुंसक-देव की उवामना, असंखगुणणाइ—असंख्यात गुणाकार रूप से, आवंत—अन्तपर्यन्त ।

गायार्थ—अन्तरकरण के साथ ही स्थितिधात और अपूर्व स्थितिबंध की निष्पत्ति होती है। अन्तरकरण के अनन्तर समय में निभलिखित सात पदार्थ होते हैं—

१. मोहनीय का एक स्थानक रसबंध, २. मोहनीय का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध, ३. मोहनीय की संख्यात वर्ष की

उदीरण, ४. आनुपूर्वी संक्रमण, ५. लोभ के संक्रमण का अभाव, ६. बंधे हुए दलिक की छह आवलिका जाने के बाद उदीरण और, ७. नपुंसक वेद की पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर समय में अन्तपर्यन्त असंख्यात्मगुणाकार रूप से उपशमना।

विशेषार्थ—अन्तरकरण के साथ ही स्थितिघात और अपूर्वस्थिति-बंध की निष्पत्ति—पूर्णता होती है। यानि जितने काल में एक स्थिति-खंड का धात करता है अथवा अपूर्व स्थितिबंध करता है, उतने ही काल में अन्तरकरण किया पूर्ण करता है। इन तीनों को एक साथ प्रारंभ करता है और एक साथ ही पूर्ण करता है। स्थितिघात जितना ही काल होने से अन्तरकरण किया काल में हजारों बार रसघात होता है।

अन्तरकरण में दलिकनिषेप का क्रम इस प्रकार है —

जिस कर्म का उस समय बंध और उदय दोनों हों उसके अन्तरकरण के दलिक प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थिति दोनों में निषिप्त करता है। अर्थात् कितने ही दलिकों को प्रथमस्थिति के साथ भोगा जा सके, वैसे करता है और कितनेक को द्वितीयस्थिति के साथ भोगा जा सके, वैसे करता है। जैसे पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला पुरुषवेद के दलिकों को दोनों स्थितियों में निषिप्त करता है। जिस कर्म का केवल उदय हो किन्तु बंध नहीं होता, उसके अन्तरकरण के दलिकों को प्रथमस्थिति में ही डालता है। जैसे स्त्रीवेद के उदय में श्रेणि आरंभ करने वाला स्त्रीवेद के दलिक को प्रथमस्थिति में डालता है। जिस कर्म का उस समय केवल बंध होता हो, उदय नहीं होता उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों को द्वितीयस्थिति में ही डालता है, किन्तु प्रथम स्थिति में निषेप नहीं करता है। जैसे सञ्चलन क्रोध के उदय में श्रेणि आरंभक मानादि के अन्तरकरण के दलिकों को द्वितीयस्थिति में ही डालता है और जिस कर्म का उस समय बंध या उदय कोई एक भी नहीं होता, उसके अन्तरकरण के

दलिकों को बंधती स्वजातीय पर प्रकृति में ढालता है। जैसे दूसरी और तीसरी कषाय के दलिकों को पर प्रकृति में प्रक्षिप्त करता है। तथा—

जिस समय अन्तरकरण क्रिया प्रारंभ होती है, उसके बाद के समय से निम्नलिखित सात पदार्थ एक साथ प्रारंभ होते हैं—

१. जिस समय अन्तरकरणक्रिया शुरू हुई, उसके बाद के समय से मोहनीय कर्म का रसबंध एकस्थानक होता है।

२-३. मोहनीयकर्म की उदीरणा संख्यात वर्ष की हो होती है। क्योंकि उस समय संख्यातवर्ष से अधिक स्थिति सत्ता में नहीं होती है तथा भाषागत उदीरणा के बाद का 'य' शब्द प्रयुक्त न। समुच्चायक होने से वह आशय समझना चाहिये कि मोहनीय का जो स्थितिबंध होता है, वह संख्यातवर्ष का होता है और वह भी पूर्व-पूर्व से संख्यातगुणहीन होता है।

४. पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क का क्रमपूर्वक ही संक्रम होता है, अर्थात् जिस प्रकृति का पहले बंधविच्छेद होता है उसके दलिक उत्तर-उत्तर में बंधविच्छेद होने वाली प्रकृतियों में जाते हैं, परन्तु बाद में बंधविच्छेद होने वाली प्रकृतियों के दलिक पूर्व में बंधविच्छेद होने वाली प्रकृति में नहीं जाते हैं। जैसे कि पुरुषवेद के दलिक क्रोधादि में जाते हैं, क्रोध के मानआदि में जाते हैं परन्तु क्रोधादि के पुरुषवेद में या मानादिक के क्रोध में नहीं जाते हैं। अन्तरकरण से पहले तो परस्पर संक्रम होता था।

५. अन्तरकरण के बाद संज्वलन लोभ का अन्य किसी प्रकृति में संक्रमण नहीं होता है।

६. अभी तक बड़े हुए कर्म की बंबाबलिका बीतने के बाद उदीरणा होती थी, किन्तु अन्तरकरणक्रिया की शुरुआत के द्वितीय समय से जो कर्म बंधता है, वह छह आबलिका के बाद उदीरणा को प्राप्त होता है।

७. नपुंसकवेद की असंख्य-असंख्य गुणाकार रूप में उपशमना उपशमकिया के चरमसमय पर्यन्त होती है और वह इस प्रकार— पहले समय में नपुंसकवेद के दलिक स्तोक उपशमित करता है। [उन दलिकों को इस प्रकार से शांत करता है—उनकी ऐसी स्थिति दर्शा देता है कि अन्तमुहूर्त पर्यन्त चारित्रमोहनीय की किसी भी प्रकृति में उदय उढ़ोरणा आदि करण प्रबलित नहीं होता है।] दूसरे समय में असंख्यातगुण उपशमित करता है। तीसरे समय में उसमें असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार प्रति समय असंख्यात-असंख्यात गुण चरमसमय पर्यन्त उपशमित करता है।

नपुंसकवेद को उपशमित करते जितना काल जाये, उस काल का चरम समय यहाँ जानना चाहिये तथा जितना दलिक उपशांत करता है, उसकी अपेक्षा परप्रकृति में असंख्यातगुण द्विचरम समय पर्यन्त मन्त्रामित करता है और चरम समय में तो अन्यप्रकृति में जितना संक्रमित होता है, उसकी अपेक्षा असंख्यातगुण उपशांत होता है।

नगुणस्कवेद की उपशामना के प्रथम समय से लेकर समस्त कर्मों की उद्दीरणा दलिकों की अपेक्षा अल्प होती है और उदय असंख्यात गुणा होता है। इसका कारण यह है कि गुणश्वेणि द्वारा बहुत-सा दलिक नीचे की स्थितियों में ब्राह्मबद्ध स्थापित होने से उदीरणाकरण द्वारा दूसरीस्थिति में से जितना दलिक खींचकर भोगा जाता है उसी उदय द्वारा असंख्यातगुणा अधिक भोगा जाता है। तथा—

अंतरकरणपविद्वो

बंधादृतारबंधो

उवर्संते धार्मि

बंधो सत्तण

संखासंख्यराण ॥

इत्थीए

অসমা পঁ

ज्ञातमंसि

नामगोयाण संखा बंधो वासा असंखिया तइए ।

ता सब्बाण वि संखा तत्तो संखेज्जगुणहाणी ॥६७॥

शब्दार्थ—अन्तरकरणपविट्ठो—अंतरकरण में प्रविष्ट, सखासंखंड—
संख्यातगुण और असंख्यातगुण हीन मोहृष्यराण—मोहनीय और इतर कर्मों
का, बंधातुसरबंधो—बंध के बाद का बंध, एवं—इसी प्रकार, इत्थोए—स्त्री-
वेद को, सख्से—संख्यातवें भाग ।

उबसंते—उपशात होने पर, धार्षण—धाति कर्मों का, संखेज्जलसमा—
संख्यात वर्ष प्रभाग, परंण—उसके बाद का, संखंहरे—संख्यातवां भाग,
बंधो—बंध, सत्त्वज्ञे इ—सात नोकशार्पों को इसी प्रकार, संखेज्जलसमि—
संख्यातवें भाग, उबसंते—उपशात होने पर ।

नामगोयाण—नाम और गोत्र कर्म का, संखा—संख्यात, बंधो—बंध,
वासा—बर्ष, असंखिया—असंख्यात, तइए—तीसरे वेदनीय कर्म का, ता—
तत्पश्चात्, सब्बाणवि—सभी कर्मों का, संखा—संख्यात, तत्तो—उसके बाद,
संखेज्जगुणहाणी—संख्यात गुणहीन ।

गाथार्थ—अन्तरकरण में प्रविष्ट जीव मोहनीयकर्म और
इतर कर्मों का बंध के बाद का बंध अनुक्रम से संख्यातगुणहीन
और असंख्यातगुणहीन करता है । इसी तरह स्त्रीवेद को
उपशमित करता है और स्त्रीवेद का संख्यातवां भाग उपशात
होने पर—

धाति कर्मों का संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है, उसके
बाद उनका संख्यातवें भाग स्थितिबंध होता है । इसी प्रकार सात
को उपशात करता है, और उनका संख्यातवां भाग उपशात
होने पर—

नाम और गोत्र कर्म का संख्यातवर्षप्रमाण और तीसरे
वेदनीय कर्म का असंख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है,
तत्पश्चात् सभी कर्मों का संख्यातवर्षप्रमाण बंध होता है, उसके
बाद संख्यातगुणहीन बंध होता है ।

विशेषार्थी—अन्तरकरण में प्रवेश करके जोब पहले समय में ही मोहनीय का जो बंध करता है, उससे उसके बाद का बंध संख्यात्तर्गुणहीन करता है। यानि अन्तरकरण के पहले समय में जो बंध करता है, उसके संख्यात्तर्वे भागप्रमाण बाद का बंध करता है। जो बंध जिसकी अपेक्षा संख्यात्तर्वे भाग है, वह बंध उसकी अपेक्षा संख्यात्तर्गुणहीन ही कहलाता है तथा मोहनीय वजित शेष कर्मों का पूर्व बंध से उत्तर बंध असंख्यात्तर्गुणहीन करता है—असंख्यात्तर्वे भाग प्रमाण करता है।

इस प्रकार की क्रिया करते अन्तमूँहूर्त में नपुंसकवेद उपशांत करता है और उसको उपशमित करने के बाद स्त्रीवेद को उपशमित करने की क्रिया प्रारंभ होती है तथा उसको हजारों स्थितिबंध बोतने के बाद नपुंसकवेद की उपशमना के अनुसार उपशमित करता है। अर्थात् नपुंसकवेद के उपशमित होने के बाद हजारों स्थितिघात जितने काल में स्त्रीवेद को भी उपशमित करता है और स्त्रीवेद को उपशमित करते हुए उसका संख्यात्तर्वा भाग उपशांत होने के अनन्तर धाति कर्मों—ज्ञानावरण, दक्षानावरण, और अन्तराय का संख्यात् वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है।

उस संख्यात्तर्वष्टप्रमाण स्थितिबंध होने के बाद का जो स्थितिबंध होता है, उस समय से लेकर केवलज्ञानावरण को छोड़कर शेष चार ज्ञानावरण का, केवलदर्शनावरण को छोड़कर शेष तीन दर्शनावरण का एकस्थानक रसबंध करता है। उसके बाद हजारों स्थितिबंध होने के बाद स्त्रीवेद उपशांत होता है। स्त्रीवेद के उपशांत होने के अनन्तर नपुंसकवेद को जिस तरह उपशमित किया, उसी प्रकार हास्थषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों की एक साथ उपशमन क्रिया प्रारम्भ करता है।

इन सात को उपशमित करते उनका संख्यात्तर्वा भाग जब उपशमित हो जाता है तब नाम और गोत्र कर्म का संख्यात्तर्वष्टप्रमाण और तीसरे वेदनीय कर्म का असंख्यात्तर्वष्टप्रमाण स्थितिबंध होता है।

उस स्थितिबंध के पूर्ण होने के बाद वेदनीय कर्म का भी उत्तर का स्थितिबंध संख्यातवर्षप्रमाण होता है। वेदनीयकर्म का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होने के बाद से समस्त कर्मों का स्थितिबंध संख्यातवर्षप्रमाण होता है और पूर्व-पूर्व स्थितिबंध से उत्तर-उत्तर का स्थितिबंध संख्यानुग्रुण हीन-हीन होता है। तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंध हो जाने के बाद हास्यषट्क और पुरुषवेद ये सातों नोकषाय शांत होती हैं।

हास्यषट्क उपशांत होने के बाद पुरुषवेद का अनुपशमित जितना दलिक शेष रहता है, उसका प्रमाण इस प्रकार है—

जं समए उवसंतं छवकं उदयद्विई तया सेसा ।

पुरिसे समऊणावलिदुर्गेण बंधं अणुवसंतं ॥६८॥

शब्दार्थ—जं समए—जिस समय, उवसंतं—उपशांत हुआ, छवकं—(हास्य) षट्क, उदयद्विई—उदयस्थिति, तया—तब, सेसा—शेष, पुरिसे पुरुषवेद का, समऊणावलिदुर्गेण—समयोन आवलिकाद्विक, बंधं—बंधा हुआ, अणुवसंतं—अनुपशांत।

गाथार्थ—जिस समय हास्यषट्क का उपशांत हुआ उस समय पुरुषवेद का एक उदयस्थिति और समयोन आवलिकाद्विक काल में बंधा हुआ दलिक अनुपशांत शेष रहता है।

विशेषार्थ—जिस समय हास्यादि इह नोकषाय उपशमित हुई, उस समय पुरुषवेद की एक उदयस्थिति—मात्र उदय-समय शेष रहता है और शेष सभी प्रथमस्थिति भोग ली जाती है। उस प्रथमस्थिति के चरम समय में पुरुषवेद का अंतिम सोलहवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है। उसके साथ द्वितीयस्थिति में समयन्यून आवलिकाद्विककाल में बंधा हुआ दलिक अनुपशमित शेष रहता है। शेष सबकी उपशमना हो चुकी होती है।

जिसका विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आगालेण समगं पडिग्नहया फिडई पुरिसवेयस्तः ।

सोलसवासिय बंधो चरिमो चरिमेण उदएण ॥६८॥

तावइ कालेण चिय पुरिसं उवसामए अवेदो सो ।

बंधो बत्तीससमा संजलणियराण उ सहस्रा ॥७०॥

शब्दार्थ—आगालेण समगं आगाल के साथ, पडिग्नहया - पतद्वग्रहता, फिडई—नष्ट हो जाती है, पुरिसवेदः—पुरुषवेद की, सोलसवासिय - सोलह वर्ष का, बंधो—बंध, चरिमो—चरम, चरिमेण उदएण—अंतिम उदय के साथ ।

तावइ कालेण—उतने काल में, चिय —ही, पुरिसं—पुरुषवेद का, उवसामए—उपशमित करता है, अवेदो—अवेदक, स—वह, बंधो—बंध, बत्तीस समा—बत्तीर वर्ष यमाण, संजलणियराण—संजलनक्षयाय और अन्य कमों का, उ—और, सहस्रा—संख्याता हजार वर्ष ।

गाथार्थ—आगाल के साथ पुरुषवेद की पतद्वग्रहता नष्ट हो जाती है । सोलह वर्ष का चरमबंध भी अंतिम उदय के साथ नष्ट हो जाता है तथा अवेदक होता हुआ अनुपशमित पुरुषवेद को उतने ही काल में उपशमित करता है । जिस समय पुरुषवेद उपशांत हुआ, उस समय संजलन क्षय का बत्तीस वर्ष प्रमाण और इतर कमों का संख्याता हजार वर्ष का बंध होता है ।

विशेषार्थ--पुरुषवेद की प्रथमस्थिति की दो आवलिका शेष रहती हैं तब उसके आगाल का विच्छेद होता है और उसी समय पुरुषवेद की पतद्वग्रहता भी नष्ट होती है । यानि हास्यादि षट्कादि प्रकृतियों के दलिक पुरुषवेद में नहीं परन्तु संजलनक्षयादि में संक्रमित होते हैं । पुरुषवेद का सोलहवर्षप्रमाण जो अंतिम स्थितिबंध होता है, वह भी प्रथमस्थिति के अंतिम उदयसमय के साथ नष्ट हो जाता है ।

बंध और उदय साथ ही दूर होते हैं और उदीरणा प्रथमस्थिति की एक आवलिका बाकी रहे तब दूर होती है और संज्वलन कषाय-चतुष्क का संख्याता हजारवर्ष का बंध होता है।

जिस समय पुरुषवेद का अंतिम बंध होता है, उस समय उस समय से दूसरी आवलिका के अंतिम समय का बंध हुआ और संक्रम से आगत समस्त दलिक शान्त हो जाता है। जैसे आवलिका के चार समय मान ले और आठवें समय की अंतिम समय मान लिया जाये तो उस समय से अंतिम पूर्व के आठवें समय का बंधा हुआ और उस समय संक्रम से आगत अंतिम समय में शान्त होता है, जिससे बंधविच्छेद के समय समयन्यून आवलिकाद्विक का बंध हुआ ही अनुपशमित बाकी रहता है और अवेदकपने के पहले समय में दो समय न्यून दो आवलिकाकाल में बंधा हुआ उपशम बिना का शेष रहता है और उतने ही काल में उपशमित करता है।

प्रथमस्थिति की समयन्यून आवलिकाद्विक शेष रहे तब पुरुषवेद की पतदग्धहता नष्ट हो जाने से अवेदकपने के प्रथमसमय में संक्रम से प्राप्त दलिक को शान्त करना रहता ही नहीं है। इसका कारण यह है कि जिस समय बंधे उस समय से एक आवलिका तदवस्थ बना रहता है और आवलिका पूरी होने के बाद उपशम करना प्रारम्भ करता है और एक आवलिकाकाल में उपशमित कर देता है। इस कारण ही जिस समय बंधा, उस समय से आवलिका जाने के बाद अनन्तरवर्ती आवलिका के चरम समय से पूर्णरूप से शान्त होता है। यानि जिस समय अन्तिम बंध होता है, उस समय से लेकर पूर्व के दूसरी आवलिका के चरम समय में जो बंधा वह बंधविच्छेद के समय शान्त होता है और बाद के समय जो बंधा वह अवेदकपने के पहले समय में शान्त होता है। इस क्रम से शान्त करता है, इसीलिए अवेदकपने के प्रथम समय में दो समयन्यून आवलिकाद्विक काल का बंधा हुआ ही अनुपशमित शेष रहता है और उसको उतने ही काल में शान्त करता है।

उपशमनादि करने का क्रम इस प्रकार है—दंष्ट्रविच्छेद के बाद का यानि अबंध के प्रथम समय में स्तोक उपशमित करता है, द्वितीय समय में असंख्यातगुण, तृतीय समय में उससे असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार उपशम उपशम करते हुए दो समय न्यून दो आवलिका के चरम समय में पूर्ण रूप से उपशमित करता है। जैसे उपशमित करता है वैसे हो दो समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा पर में संक्रमित भी करता है।

संक्रम की विधि इस प्रकार है—एहले समय में बहुत संक्रमित करता है, दूसरे समय में विशेषन्यून, तीसरे समय में विशेषन्यून, इस प्रकार चरम समय पर्यन्त संक्रमित करता है। इस तरह उत्तरोत्तर अधिक-अधिक उपशमाते और न्यून-न्यून संक्रमित करते अदेदकपने के प्रथम समय से दो समय न्यून दो आवलिकाकाल में पुरुषवेद सम्पूर्ण शान्त होता है। जिस समय पुरुषवेद पूरी तरह में शान्त होता है, उस समय संज्ञलनकाषाय का बत्तीस वर्ष का^१ और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय, नाम और गोत्र कर्म का संख्याता हजार वर्ष का स्थितिबंध होता है।

अब अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की उपशमना का विचार करते हैं।

अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की उपशमना

अव्वेयरुद्धमसमया कोहतिगं आढवेङ उवसमितं ।

तिसु पडिग्यहया एकका उदओय उदीरणा बंधो ॥७१॥

फिट्टन्ति आवलीए सेसाए सेसर्य तु पुरिससमं ।

एवं सेसकसाया वेयइ थिबुगेण आवलिया ॥७२॥

शब्दार्थ—अव्वेयरुद्धमसमया—अवेदकपने के प्रथम समय से, कोहतिगं—

१ कर्मप्रकृति में अन्तर्मुहूर्त न्यून बत्तीस वर्ष का बंध बताया है।

क्रोधत्रिक को, आहुवेद— प्रारम्भ करता है, उवशमिति— उपशमित करना, तिसु— तीन आवलिका, पञ्चिग्रहण— पतदग्रहता, एका— एक की (संज्वलन-क्रोध की), उबओ— उदय, य— और, उदीरण— उदीरण, अंधो— वध ।

फिटटिति- नष्ट होली है, आवलीए आवलिका, सेसाए .. शेष रहने पर, सेसद— शेष, तु— और, पुरिससम— पुरुषवेद के समान, एवं— इसी प्रकार, सेसक्साया— शेष कषायों को, वेयइ— वेदन करता है शिखुरेण— स्तिबुक संक्रम द्वारा, आवलिया— आवलिका ।

गाथार्थ— अवेदकपने के प्रथम समय से तीन क्रोध को उपशमित करना प्रारम्भ करता है । प्रथमतिति ये तीन आवलिका द्वाकी रहे तब संज्वलन क्रोध की पतदग्रहता नष्ट हो जाती है और एक आवलिका शेष रहने पर उदय, उदीरण और बंध नष्ट हो जाता है । शेष पुरुषवेद के समान जानना चाहिए । इसी प्रकार शेष कषायों को उपशमित करता है तथा अन्तिम आवलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा वेदन करता है ।

विशेषार्थ— जिस समय पुरुषवेद का अवेदक होता है तो उस अवेदकपने के प्रथम समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध इन तीनों क्रोध को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है । उपशमन करते पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यातगुण उपशमित करता जाता है ।

इन तीनों की उपशमनक्रिया प्रारम्भ करते जी स्थितिबंध होता है, उसके बाद का संज्वलन का संख्यातभागहीन और शेष कर्मों का संख्यातगुणहीन स्थितिबंध होता है तथा शेष स्थितिघात, रसघात, गुणभेण और गुणसंक्रम पूर्व के समान ही होता है ।

संज्वलनक्रोध की प्रथमस्थिति जब समयोन तीन आवलिका शेष रहे तब उसकी पतदग्रहता नष्ट हो जाती है । यानि संज्वलनक्रोध में अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध के दलिक संक्रमित नहीं होते

है किन्तु मानादिक में संक्रमित होते हैं। प्रथमस्थिति की दो आवलिका बाकी रहें तब आगाल का विच्छेद होता है, मात्र उदीरणा होती है और वह भी प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहे, तब तक ही होती है। उदयावलिका के चरम समय में संज्वलन क्रंभादि चारों का स्थितिवंध चार मास का और शेष कर्मों का संत्वाता हजार वर्ष का होता है तथा उदीरणावलिका के चरम समय में संज्वलनक्रोध का बंध, उदय और उदीरणा इन तीनों का एक साथ ही विच्छेद होता है और उसी समय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध पूर्ण रूप से उपशमित हो जाता है।

जिस समय संज्वलनक्रोध का उदयविच्छेद होता है, उस समय उदयावलिकागत दलिक और समयोन दो आवलिकाकाल में बंधे हुए दलिक को छोड़कर संज्वलनक्रोध का शेष सभी दलिक शान्त हो जाता है। उस समयोन दो आवलिकाकाल में बंधे हुए दलिक का उतने ही काल में पुरुषवेद के लिये कहे गये क्रमानुसार उपशमित करता है तथा जिस प्रकार तीनों क्रोधों को उपशान्त करता है, उसी प्रकार संग्रह अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन भान, भाया और लोभ कषाय को उपशमित करता है। उन प्रत्येक की प्रथमस्थिति की जो आवलिका शेष रहती है उसे उत्तर-उत्तर की क्षयाय में स्तिवुक-संक्रम द्वारा संक्रमित करके अनुभव करता है।

जिसका विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब संज्वलनक्रोध का बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, तब उसकी प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहती है और उस शेष आवलिका को स्तिवुकसंक्रम द्वारा मान में प्रक्षेप करके अनुभव करता है और जो समयन्यून दो आवलिकाकाल में बंधा हुआ अनुप-शान्त दलिक सत्ता में है, उसे उतने ही काल में यानि बंधविच्छेद समय से समयोन दो आवलिकाकाल और अबंध के प्रथम समय से दो

समय न्यून दो आवलिका काल में उपशमित करता है। उपशमित करने का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम समय में अल्प उपशमित करता है, दूसरे समय में असंख्यात-गुण, तीसरे समय में पूर्व में असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार अबंध के प्रथम समय से दो समय न्यून दो आवलिका के चरम समय पर्यन्त उपशमित करता है। जैसे उपशमित करता है, वैसे ही मान आदि में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा पुरुषवेदोक्त क्रम से संक्रमित भी करता है। इस तरह संज्वलनक्रोध को पूर्ण रूप से उपशमित करता है।

जिस समय संज्वलनक्रोध का बंध, उदय और उदीरणा विच्छिन्न हुई, उसी समय यानि संज्वलनक्रोध के अबंध समय से लेकर संज्वलन-मान की द्वितीयस्थिति में से दलिकों को आकृष्ट कर प्रथमस्थिति करता है और अनुभव करता है। इसका कारण यह है कि जिस समय संज्वलनक्रोध का अन्तिम उदय रुका तो उसके बाद के समय से मान का उदय प्रारम्भ होता है। पूर्व के उदयविच्छेद और उत्तर के उदय के बीच अन्तर नहीं होता है। द्वितीयस्थिति में से खींचि गये दलिकों में से उदयसमय में अल्प प्रक्षेप करता है, दूसरे समय में असंख्यात-गुण तीसरे समय में असंख्यातगुण प्रक्षेप करता है। इस तरह प्रथमस्थिति के चरम समय पर्यन्त प्रक्षेप करता है। अभी तक मान का प्रदेशोदय था जिससे एक प्रदेशोदयावलिका छोड़कर गुणश्रेणि के क्रम से दलिक स्थापित होता था, किन्तु अब रसोदय हुआ, जिससे उदय से लेकर गुणश्रेणि के क्रम से दलिक रखे जाते हैं।

प्रथमस्थिति के प्रथम समय में संज्वलनमान का स्थितिबंध चार मास और शेष ज्ञानावरणादि का संख्याता हजार वर्ष का होता है। उसी समय से वप्रत्याख्यानावरणादि तीनों मान का क्रोधादि के क्रम से एक साथ ही उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

संज्वलनमान की जब प्रथमस्थिति समयन्यून तीन आवलिका शेष रहे तब अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों को संज्वलनमान में संक्रमित नहीं करता है किन्तु संज्वलनमाया आदि में संक्रमित करता है। दो आवलिका शेष रहे तब आगाल का विच्छेद होता है, केवल उदीरणा ही प्रवर्तमान रहती है और वह भी एक आवलिका पर्यन्त ही होती है। उस उदीरणावलिका के चरम समय में बंध और उदय भी एक जाता है। ये सीनों एक साथ ही दूर होते हैं। उस समय प्रथमस्थिति की एक आवलिका जंष रहती है।

जिस समय मान का बंधविच्छेद होता है, उस समय संज्वलन मान, माया और लोभ का स्थितिबंध दो मास और शोष कर्मों का संख्याता वर्ष का होता है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान ती सर्वथा शान्त और संज्वलनमान की प्रथमस्थिति की अन्तिम एक आवलिका तथा समयोन दो आवलिका काल में बंधे हुए दलिक को छोड़कर शेष सभी शान्त होता है। प्रथमस्थिति की आवलिका को स्तिवृक्षसंक्रम द्वारा माया में संक्रमित कर वेदन करता है और समयोन दो आवलिका काल में बंधे हुए दलिक को उतने काल में पुरुषवेद के क्रम से उपशान्त और संक्रमित करता है।

मान का उदयविच्छेद होने के बाद संज्वलनमाया की द्वितीय-स्थिति में से दलिकों को लेकर प्रथमस्थिति करता है और वेदन करता है। उस प्रथमस्थिति के चरम समय में माया और लोभ का दो मास का और शोष कर्मों का संख्यातवर्ष का स्थितिबंध होता है। उसी समय से लेकर तीनों माया को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

संज्वलनमाया की प्रथमस्थिति समयोन तीन आवलिका बाकी रहे तब अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया को संज्वलनमाया की पतद्रग्हहता नष्ट हो जाने से उसमें नहीं किन्तु संज्वलनलोभ में संक्रमित करता है। दो आवलिका शेष रहे तब आगाल नहीं होता है,

केवल एक आवलिका पर्यन्त उदीरणा प्रवर्तित होती है। उस उदीरणाकरण के चरम समय में संज्वलनमाया और लोभ का स्थितिबंध एक मास का और शेष कर्मों का संख्यात वर्ष का होता है तथा उसी समय संज्वलनमाया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया सर्वथा शान्त और संज्वलनमाया की प्रथमस्थिति की एक आवलिका और समयोन दो आवलिका काल में बंधे हुए दलिक को छोड़कर शेष समस्त शान्त हो जाता है। अवाशष्ट प्रथमस्थिति की अन्तिम आवलिका को संज्वलनलोभ में स्तिवुकसंक्रम द्वारा संक्रमित कर वेदन करता है। समयोन आवलिकाधिक काल में बंधे हुए दलिक को उतने ही काल में पुरुषवेद के क्रम से उपशान्त करता है और संज्वलन लोभ में संक्रमित करता है।

उसके बाद के समय में यानि जिस समय माया का उदयविच्छेद हुआ, उसके अनन्तरवर्ती समय में संज्वलन लोभ की द्वितीयस्थिति में से दलिकों को लेकर प्रथमस्थिति करता है और अनुभव करता है। इसी प्रकार लोभ का उदयविच्छेद होने के बाद मान का उदय, उसका उदयविच्छेद होने के बाद माया का उदय और उसका उदयविच्छेद होने के बाद लोभ का उदय होता है एवं प्रत्येक की प्रथमस्थिति की जो अन्तिम-अन्तिम आवलिका शेष रहती है, वह उत्तर-उत्तर में स्तिवुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करके वेदन करता है।

यद्यपि संज्वलन लोधादि का अपने-अपने उदय के चरम समय में जितना स्थितिबंध होता है, उसका ऊपर संकेत किया जा सका है, लेकिन उपशम और क्षपक क्षेणि की अपेक्षा उसमें जो विशेषता है, उसको यहाँ स्पष्ट करते हैं—

चरिमुदयम्म जहन्नो बंधो दुगुणो उ होइ उवसमगे ।

तयणंतरपगईए चजगुणोणोसु संखगुणो ॥७३॥

शब्दार्थ—चरिमुदयम्म—उदय के चरम समय में, जहन्नो—जघन्य, बंधो—बंध, दुगुणो—दुगुना, उ—और, होइ—होता है, उवसमगे—उपशम

श्रेणि में, तयगंतरपाईए—तदनन्तर प्रकृति का, चर्वगुणोणे सु—चौगुना और अन्य प्रकृतियों का, संख्यातगुण—संख्यातगुण।

गाथार्थ—संज्वलन क्रोधादि का अपने-अपने उदय के चरम समय में क्षपकश्रेणि में जो जघन्य स्थितिबंध होता है उससे उपशमश्रेणि में वह बंध दुगुना होता है। तदनन्तर प्रकृति का चौगुना और अन्य कर्मों का संख्यातगुण होता है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि में क्षपक को अपने-अपने उदय के चरम समय में संज्वलन क्रोधादि का जो जघन्य स्थितिबंध होता है, वहीं वह स्थितिबंध उपशमक को दुगुना होता है, उसी समय तदनन्तर प्रकृति का चौगुना और इसके चार की प्रकृति का आठ गुना होता है और अन्य कर्मों का संख्यातगुण होता है।

इस संस्कृत कथन का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

क्षपकश्रेणि में संज्वलनक्रोध का अपने-अपने उदय के चरम समय में दो मास का जघन्य स्थितिबंध होता है। उपशमश्रेणि में मन्द परिणाम होने से वहीं अपने उदय के चरम समय में दुगुना यानि चार मास प्रमाण स्थितिबंध होता है और उसी समय क्रोध की अनन्तरवर्ती प्रकृति जो मान है, उसके लिए विचार करें तो उसका चार गुण यानि चार मास प्रमाण बंध होता है और मान की अनन्तरवर्ती प्रकृति माया का आठ गुना बंध होता है। इसका कारण यह है कि संज्वलनक्रोध के चरमोदय काल में क्रोधादि चारों का चार मास का जघन्य स्थितिबंध होता है। वह चार मास प्रमाण बंध क्षपकश्रेणि में क्रोध, मान और माया के बंधविच्छेदकाल में होने वाले बंध से दुगुना, चार गुना और आठ गुना है।

यहीं क्षपकश्रेणि में क्रोध, मान और माया का अपने-अपने अन्तिम उदय समय में जो जघन्य स्थितिबंध होता है, उसके उपशमश्रेणि में क्रोध के चरमोदय काल में क्रोधादि तीन का बंध कितना गुण होता है, यह बताया है।

इसी प्रकार मान के चरमोदय काल में मान, माया का कितना गुणा बंध होता है, यह बताया है। जैसे कि क्षपकश्रेणि में अपने अपने चरमोदय समय में क्रोध का दो मास, मान का एक मास और माया का पञ्चवंश दिवस का स्थितिबंध होता है। उपशमश्रेणि में क्रोध के चरमोदय काल में क्रोध, मान और माया प्रत्येक का चार मास का जघन्य स्थितिबंध होता है। जिसमें क्रोध का दुगुना, मान का चार गुणा और माया का आठ गुणा श्रटिन हो सकता है। इसी प्रकार मान के चरमोदय काल में मान और माया का दो मास का जघन्य स्थिति-बंध होता है, वह क्षपकश्रेणि के जघन्य स्थितिबंध से दुगुना और चौगुना होता है। माया के चरमोदय काल में उसका एक मास का जघन्य स्थितिबंध होता है, वह क्षपकश्रेणि में चरमोदय काल में होने वाले जघन्य स्थितिबंध से दुगुना है, तथा शेष ज्ञानावरणादि कर्मों का सर्वत्र संख्यात् वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है, मात्र पूर्व-पूर्व स्थिति-बंध से उत्तरोत्तर स्थितिबंध हीन-हीन होता है।

इस प्रकार से क्रोध, मान, माया के स्थितिबंध का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अब संज्ञलन लोभ के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

संज्ञलन लोभ की वक्तव्यता,

लोभस्त उपदमठिइं विईयठिइओ उ कुणइ तिविभाग ।

दासु दलणिक्खेवो तइयो पुण किट्टीवेयद्वा ॥७४॥

शब्दार्थ—लोभस्त—लोभस्त—लोभ की, उ—और, उपदमठिइं—प्रथमस्थिति, विईयठिइओ—द्वितीयस्थिति में, उ—और, कुणइ—करता है, तिविभाग—तीन विभाग, दासु—दो में, दलणिक्खेवो—दलिकनिक्षेप, तइयो—तीसरा, पुण—पुण, किट्टीवेयद्वा—किट्टीवेदनाद्वा—किट्टीवेदन काल।

गाथार्थ—(माया का उदयविच्छेद होने के बाद) लोभ की द्वितीयस्थिति में से तीन भाग वाली प्रथमस्थिति करता है।

आदि के दो भागों में दलिक निक्षेप करता है और तीसरा भाग किट्टिवेदनाद्वा—किट्टिवेदन का काल है।

विशेषार्थ—माया के उदयविच्छेद के बाद के समय में लेकर लोभ का उदय होता है। उस लोभ की दूसरी स्थिति में ने दलिकों को उतारकर उनकी प्रथमस्थिति करता है और लोभ की प्रथमस्थिति के तीन भाग करता है—१ अश्वकर्णकरणाद्वा, २ किट्टिकरणाद्वा और, ३ किट्टिवेदनाद्वा।

प्रबर्धमान रसाणु वाली वर्गणाओं का क्रम खण्डित किये सिवाय अत्यन्त हीन रस बाले स्पर्धक करना उन्हें अपूर्वस्पर्धक कहते हैं। उन अपूर्वस्पर्धकों को करने का काल अश्वकर्णकरणाद्वा कहलाता है।

उसका इतना अधिक रस न्यून कर देना कि जिसके कारण प्रबर्धमान रस वाली वर्गणाओं का क्रम टूट जाये, उसे किट्टि कहते हैं और जिस काल में किट्टियाँ हों, वह किट्टिकरणाद्वा कहलाता है।

नौवें गुणस्थान में की हुई उन किट्टियों के अनुभव का को किट्टिवेदनाद्वा कहते हैं।

जिस समय लोभ का उदय होता है, उस समय से नौवें गुणस्थान का जितना काल बाकी है, उसके दो भाग होते हैं। उनमें के प्रथम-भाग में अपूर्वस्पर्धक होते हैं और द्वितीयभाग में किट्टियाँ होती हैं और मूळसंपरायगुणस्थान में किट्टिकरणाद्वा में की हुई किट्टियों का वेदन—अनुभव करता है। नौवें गुणस्थान में जिस समय से लोभ का उदय होता है, उस समय से लेकर उसका जितना काल शेष है, उससे उसकी प्रथमस्थिति एक आवलिका अधिक करता है। आवलिका अधिक कहने का कारण नौवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त तो लोभ के रसोदय का अनुभव करता है, लेकिन उसको प्रथमस्थिति की एक आवलिका बाकी रहती है और नौवें गुणस्थान को पूर्णकर दसवें गुणस्थान में जाता है। वहाँ अवशिष्ट उस आवलिका को स्तंशुकसंक्रम द्वारा

सूक्ष्मकिट्टियों में संक्रमित करके अनुभव करता है। इसीलिए एक आवलिका अधिक करना कहा है।

अश्वकर्णकरणाद्वा के प्रथम समय से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन लोभ, इस तरह तीनों लोभों को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है तथा उस अश्वकर्णकरणाद्वा के काल में अन्य जो कुछ करता है अब उसका निर्देश करते हैं।

अश्वकर्णकरणाद्वा में करणीय

संताणि बज्ज्वमाणग सरूवओ फङ्गाणि जं कुणइ ।

सा अस्सकण्णकरणाद्वा मज्जमा किट्टिकरणाद्वा ॥७५॥

शाहदार्थ—संताणि—मनागत, बज्ज्वमाणग—बध्यमान, सरूवओ ... व्यवहर से, फङ्गाणि स्पर्शक, जं—जो, कुणइ—करता है, सा—वह, अस्सकण्णकरणाद्वा—अश्वकर्णकरणाद्वा, मज्जमा—गध्यम, किट्टिकरणाद्वा—किट्टिकरणाद्वा ।

गाथार्थ—लोभ के सत्तागत स्पर्शकों को तत्काल बध्यमान स्पर्शक स्वरूप से जो करता है, वह अश्वकर्णकरणाद्वा है। उसके बाद किट्टिकरणाद्वा होता है।

विशेषार्थ—माया के जो दलिक संज्वलनलोभ में संक्रमित हुए हैं और पूर्व में जो संज्वलनलोभ के दलिक बंधे हुए सत्तागत हैं, उनको तत्काल बध्यमान संज्वलनलोभ रूप में यानि तत्काल बंधते हुए संज्वलन लोभ की तरह अत्यन्त नीरस जिसमें किया जाता है वह अश्वकर्णकरणाद्वा है।

इसका विशेष विचार इस प्रकार है—अश्वकर्णकरणाद्वा के काल में वर्तमान माया के जो दलिक संज्वलन लोभ में संक्रमित हुए हैं तथा पूर्व में बंधे हुए लोभ के जो दलिक सत्ता में हैं, उनको प्रति समय ग्रहण करके तत्काल बंधते हुए संज्वलनलोभ के जैसे अत्यन्त हीन रसवाला करता है, किन्तु प्रबद्धमान रसाणुओं के क्रम को लोडता नहीं

है। संसार में परिभ्रमण करते इससे पहले किसी भी काल में वंधा-अयी ऐसे हीन रस वाले स्पर्धक नहीं बांधे थे, परन्तु विशुद्धि के कारण अभी ही सत्ता में इतने अधिक हीन रस वाला करता है।

इस प्रकार प्रति समय अपूर्व स्पर्धक करते संख्याता स्थितिबन्ध जायें तब अश्वकर्णकरणाद्वा पूर्ण होता है। तत्पश्चात् किट्ठिकरणाद्वा में प्रवेश करता है। उस समय संज्वलनलोभ का स्थितिबन्ध दिवस-पृथक्त्व होता है और शेष कर्मों का वर्षपृथक्त्व प्रसारण होता है। किट्ठि-करणाद्वा के काल में पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकों में से दलिकों को ग्रहण करके समय-समय (प्रतिसमय) अनन्त-अनन्त किट्ठियां करता है।

यहाँ अपूर्वस्पर्धक और पूर्वस्पर्धक इन दोनों को कहने का तात्पर्य यह है कि अपूर्वस्पर्धक हे काल में कितने अपूर्वक तत्काल बंधते संज्वलनलोभ के जैसे अल्परस वाले किये हैं, तथा उस काल में जिन स्पर्धकों के अपूर्वस्पर्धक नहीं किये हैं, उन दोनों को ग्रहण करके किट्ठियां करता है। अपूर्वस्पर्धककाल में सत्तागत सभी स्पर्धक अपूर्व नहीं होते हैं, कितनेक होते हैं और कितनेक वैसे ही रहते हैं।

अब किट्ठियों के स्वरूप और प्रथम समय में कितनी किट्ठियां करता है? यह स्पष्ट करते हैं।

किट्ठियों का स्वरूप

अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणूण विभयणं किट्ठि ।

पठमसमयंमि रसफङ्गवगगणाणंतभाग समा ॥७६॥

शब्दार्थ- अप्पुव्वविसोहीए—अपूर्व विशुद्धि द्वारा, अणुभागोणूण—अनु-भाग (रस) को न्यून करना, विभयणं—धंडित करके, किट्ठि—किट्ठि, पठम-समयंमि—प्रथम समय में, रसफङ्गवगगणाणंतभाग समा—रसस्पर्धकगत वर्गण के अनन्तवें भाग समान।

गाथार्थ— अपूर्वविशुद्धि द्वारा प्रबर्धमान रसाणु का प्रथम धंडित कर अत्यन्त हीन रस करना किट्ठि कहलाता है। प्रथम

समय में रसस्पर्धकगत वर्गणा के अनन्तवें भाग समान किट्रिया होती है।

विशेषार्थ—पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक में से वर्गणाओं को प्रहण करके अपूर्वविशुद्धि द्वारा अपूर्वस्पर्धक करते समय जो रस कम किया था, उससे भी अनन्तगुणहीन रस करके प्रबर्धमान रसाणु का क्रम खंडित करना और वर्गणा-वर्गणा के बीच बड़ा अंतर कर देना, किट्रि कहलाता है। जैसे कि जिस वर्गणा में अस्तकल्पना में एक सौ एक, एक सौ दो, एक सौ तीन रसाणु थे, उनके रस को कम करके अनुक्रम से पांच, पन्द्रह, पच्चीस रसाणु रखना किट्रि कहलाता है। इस प्रकार से किट्रियां करते समय अपूर्वस्पर्धक के काल में जो रस कम हुआ था, उससे भी अनन्तगुणहीन रस होता है और वर्गणा-वर्गणा के बीच एक बड़ा अंतर पड़ता है। अपूर्वस्पर्धकों में एक रसाणु अधिक, दो रसाणु अधिक इस तरह प्रबर्धमान रसाणु वाली वर्गणाये मिल सकती हैं, जिससे एवं की तरह उनके स्पर्धक भी हो सकते हैं, किन्तु किट्रिया होती हैं तब वह क्रम नहीं रहता है। किट्रिकरणादा के प्रथम समय में अनन्ती किट्रियां करता है और वे किट्रियां एक स्पर्धक में रही हुई अनन्ती वर्गणाओं के अनन्तवें भाग होती हैं और उनको सर्वजघन्य रसस्पर्धक में जितना रस है, उससे भी हीन रस वाला करता है।

अब इसी बात की विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—

सव्वजहन्नगफड़ग्रणन्तगुणहाणिया उ ता रसओ ।

पइसमयमसंखंसो आइमसमया उ जावन्तो ॥७७॥

अणुसमयमसंखगुणं दलियमणन्तंसओ उ अणुभागो ।

सव्वेसु मन्दरसमाइयाण दलियं विसेसूर्ण ॥७८॥

शब्दार्थ—सव्वजहन्नगफड़ग - मध्यजघन्य रसस्पर्धक, अणन्तगुणहाणिया—अनन्तगुणहीन, उ—भी, ता—वे, रसओ—रस से, पइसमयमसंखंसो

—प्रति समय असंख्यातमें भाग, आद्यमसमया—प्रथम समय में, उ—भी, आवस्तो—चरमसमय पर्यन्त ।

अगुसमयमसंबगुणे—प्रत्येक समय असंख्यातगुण, दलियं दलिक, अनन्त-सभो—अनन्तमें भाग, उ—जीर, अणुभागो—अनुभाग (रम), सम्बेदुः सभी में मन्दरसमाइयाण—मन्द रस वाली, दलिय—दलिक, विशेषूण—विशेषहीन ।

गाथार्थ—वे किटिट्याँ रस की अपेक्षा सर्वजघन्य रसस्पर्धक से अनन्तगुणहीन रस वाली करता है। पहले समय से प्रत्येक समय में असंख्यातमें भाग प्रमाण किटिट्याँ होती हैं, इस तरह किटिट्यकरणाद्वा के चरम समय पर्यन्त करता है।

प्रत्येक समय दलिक असंख्यातगुण होते हैं और रस अनन्तमें भाग होता है। सभी समयों में मन्दरस वाली किटिट्यों में दलिक विशेष और उससे अधिक रस वाली में अल्प, इस तरह अधिक-अधिक रस वाली किटिट्यों में दलिक विशेष हीन-हीन होते हैं। इसी तरह प्रत्येक समय हुई किटिट्यों में समझता चाहिए ।

विशेषार्थ—सत्ता में हीनातिहीन रस वाला जो रसस्पर्धक है उसमें भी रस की अपेक्षा उन किटिट्यों को अनन्तगुण हीन रस वाली करता है। अर्थात् सत्ता में रहे हुए अल्पातिअल्प रस वाले स्पर्धक में जो रस है, उसमें भी किटिट्यों में अनन्तमें भाग प्रमाण रस रखता है। वे किटिट्याँ किटिकरणाद्वा के प्रथम समय से आरम्भ कर गूर्द-गूर्द समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातवे-असंख्यातवे भाग करता है। जिससे किटिकरणाद्वा के प्रथम समय में एक रस-स्पर्धक में जितनी वर्गणायें होती हैं, उनके अनन्तमें भाग प्रमाण किटिट्याँ करता है। दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणहीन, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुणहीन किटिट्याँ करता है। इस प्रकार किटिकरणाद्वा के चरमसमयपर्यन्त किटिट्याँ करता है। इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में अधिक किटिट्याँ करता है और

उत्तरोत्तर समय में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा असंख्यातवे-असंख्यातवे भाग प्रमाण किट्टियां करता है। नथा—

प्रत्येक समय जो किट्टियां होती हैं, उनके दलिकों का प्रमाण पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण होता है। अर्थात् पहले समय में जो किट्टियां होती हैं, उन सब किट्टियों का दलिक दूसरे समय की किट्टियों की अपेक्षा अल्प होता है। उससे दूसरे समय में हुई सभी किट्टियों का दलिक असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में की गई सभी किट्टियों का दलिक असंख्यातगुण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण दलिक किट्टिकरणाद्वा के चरम समय पर्यन्त होते हैं और रस की अपेक्षा विचार करें तो वह अनन्तवें भाग मात्र होता है। पहले समय में की गई सभी किट्टियों में रस अधिक होता है, उससे दूसरे समय में की गई सभी किट्टियों में अनन्तगुणहीन रस होता है, इस तरह किट्टि-करणाद्वा के चरमसमय पर्यन्त पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में की गई किट्टियों में अनन्तगुणहीन रस होता है।

इसका कारण यह है कि उत्तरोत्तर समय में परिणामों की निर्मलता होने से रस अल्प-अल्प होता जाता है और तथास्वभाव से अल्प रस वाले दलिक अधिक और अधिक रस वाले दलिक अल्प होते हैं। जिससे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय के दलिकों का प्रमाण अधिक बताया है।

यहाँ तक तो पूर्व-पूर्व समय की किट्टियों के दलिकों और रस की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय की किट्टियों के दलिकों और रस का प्रमाण बतलाया। अब प्रत्येक समय होने वाली किट्टियों के दलिकों का एक दूसरे की अपेक्षा प्रमाण निर्देश करते हैं—

प्रत्येक समय में जो किट्टियां होती हैं, उनमें से जघन्यरस वाली किट्टि पहली, उससे अनन्तगुणरस वाली दूसरी, उससे अनन्तगुण-

रस वाली तीसरी इस तरह सर्वोत्कृष्ट रस वाली अन्तिम इस प्रकार स्थापित करना चाहिये और उसमें दलिक विशेषहीन-विशेषहीन है। जैसे कि प्रथम किटिट में अधिक दलिक, उससे अनन्तगुणाधिक रस वाली दूसरी किटिट में विशेषहीन, उससे अनन्तगुणाधिक तीसरी किटिट में विशेषहीन दलिक, इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट किटिट पर्यन्त विशेषहीन दलिक समझना चाहिये तथा सभी समयों की किटिटयों की स्थापना जैसे पूर्व-पूर्व किटिट के दलिक से उत्तरोत्तर किटिट का दलिक विशेषहीन-विशेषहीन होता है, वैसे ही एक समय में हीरे किटिटयों में भी जानना चाहिये। वह इस प्रकार—

पहले समय में की गई किटिटयों में जो अल्परस वाली किटिट है, उसमें दलिक बहुत अधिक हैं, उससे अनन्तगुणाधिक रस वाली दूसरी किटिट में दलिक विशेषहीन है, उससे अनन्तगुणाधिक रस वाली तीसरी किटिट में दलिक विशेषहीन हैं। इस प्रकार उत्तर-उत्तर की अनन्तगुणाधिक रस वाली किटिटयों में विशेषहीन-विशेषहीन दलिक पहले समय की गई किटिटयों में जो सर्वोत्कृष्ट रस वाली किटिट है, वहाँ तक जानना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक समय की किटिटयों के लिये भी समझना चाहिए। तथा—

आइमसमयक्याणं मंदाईर्ण रसो अणन्तगुणो ।

सब्बुकक्षसरसा वि हु उवरिमसमयस्सञ्जांतंसे ॥७६॥

शब्दार्थ—आइमसमयक्याण—प्रथम समय में की गई, मन्दाईर्ण—जघन्य, रसो—रस, अणन्तगुणो अनन्तगुण, सब्बुकक्षसरसा मर्वोत्कृष्ट रस, वि भी, उवरिमसमयस्सञ्जांतंसे—ऊपर के समय की अनन्तवें भाग।

गाथार्थ—प्रथम समय में की गई जघन्य रस वाली किटिट से लेकर सर्वोत्कृष्ट रस वाली किटिट पर्यन्त उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस जानना चाहिये। ऊपर के समय की सर्वोत्कृष्ट रस वाली

किटिट ऐ ही के समय की जघन्य रस वाली किटिट के अन्तर्लवे भाग प्रमाण है।

बिशेषार्थ—जैसे पूर्व गाथा में एक समय की गई किटिटयों में दलिकों का प्रमाण बताया है, वैसे ही इस गाथा में रस का प्रमाण बतलाते हैं—

पहले समय में की गई किटिटयों में अत्यन्त मन्द रस वाली जो किटिट है, वह दूसरी किटिट की अपेक्षा अत्यन्त हीन रस वाली है। उससे दूसरी किटिट अनन्तगुण रस वाली, उससे तीसरी किटिट अनन्तगुण रस वाली है। इस प्रकार प्रथम समय में की गई किटिटयों में उत्तरोत्तर अनन्तगुण सर्वोल्कुष्ट रस वाली किटिट पर्यन्त जानना चाहिये। इसको पहले समय में जो किटिटयों होती हैं, उनको क्रम से स्थापित करने पर स्पष्ट समझा जा सकता है। जघन्य रस वाली को पहले और चढ़ते-चढ़ते रस वाली को उत्तरोत्तर स्थापित करना चाहिये। इसी प्रकार से द्वितीय आदि समयों में की गई किटिटयों के सम्बन्ध में भी प्रस्तुपण करना चाहिए।

किटिटयों के रस और प्रदेश का अल्पबहुत्व

अब पूर्व-पूर्व समय की जघन्य रस वाली किटिट और उत्तर-उत्तर के समय की उत्कुष्ट रस वाली किटिट के रस और प्रदेशों के अल्प-बहुत्व का निर्देश करते हैं। रसविषयक अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

पहले समय में की गई किटिटयों में जो अत्यन्त अल्परस वाली है वह उत्तर में कही जाने वाली वी अपेक्षा अधिक रस वाली है, उससे द्वितीय समय में की गई किटिटयों में जो उत्कुष्टरस वाली किटिट है, वह अनन्तगुणहीन रस वाली किटिट है तथा दूसरे समय में की गई किटिटयों में जो अत्यन्त अल्परस वाली किटिट है, उसकी अपेक्षा हीसरे समय में की गई किटिटयों में जो सर्वोल्कुष्ट रस वाली किटिट है, वह अनन्तगुणहीन रस वाली किटिट है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय की अल्प रस वाली किटिट की अपेक्षा ही उत्तर-उत्तर के समय की उत्कुष्ट

रस वाली किट्टि अनन्तगुणहीन-अनन्तगुणहीन रस वाली जानना चाहिए।

अब प्रदेश का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—पहले समय में की गई किट्टियों में जो बहुत प्रदेश वाली किट्टि है, वह दूसरे समय की गई किट्टियों में की सर्वाल्प प्रदेश वाली किट्टि की अपेक्षा अल्पप्रदेश वाली है, उससे दूसरे समय की गई किट्टियों में की जो सर्वाल्पप्रदेश वाली किट्टि है, वह असंख्यातगुण प्रदेश वाली है, उससे तीसरे समय की गई किट्टियों में की जो सर्वाल्पप्रदेश वाली किट्टि है, वह असंख्यातगुण प्रदेश वाली है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्य-गुण चरमसन्धपर्यात् कहना चाहिये। लात्पर्य यह है कि अधिक-अधिक रस वाली किट्टियां अल्प-अल्प प्रदेश वाली होती हैं और अल्प-अल्प रस वाली किट्टियां अधिक-अधिक प्रदेश वाली होती हैं।

किट्टिकरणद्वाए तिसु आवलियासु समयहीणासु ।

न पडिग्महया दोष्हवि सट्ठाणे उवसमिज्जंति ॥८०॥

शब्दार्थ—किट्टिकरणद्वाए—किट्टिकरणाद्वा की, तिसु—तीन, आवलियासु—आवलिका, समयहीणासु—समयहीन, न नहीं, पडिग्महया—पतद्युप्रहता, दोष्हवि—दोनों ही, सट्ठाणे—स्वस्थान में, उवसमिज्जंति—उपशमित होते हैं।

गाथार्थ—किट्टिकरणाद्वा की समयन्यून तीन आवलिका शेष रहने पर संज्वलन लोभ पतद्युप्रहता नहीं रहता है, अतएव उसके बाद दोनों लोभ स्वस्थान में उपशमित होते हैं।

विशेषार्थ—किट्टिकरणाद्वा का समय न्यून तीन आवलिका बाकी रहे तब (और नीबैं गुणस्थान की समयन्यून दो आवलिका बाकी रहे तब) संज्वलनलोभ की पतद्युप्रहता नष्ट होती है, जिसमें अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ के द्वानिक संज्वलन लोभ में संक्रमित नहीं होते हैं, किन्तु अन्य स्वरूप में हुए बिना अपने अपने स्थान में ही

यानि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के स्वरूप में ही शान्त होते हैं—उपशमित होते हैं। किटिकरणाद्वा की दो आवलिका (और नीवें गुणस्थान की एक आवलिका) वाकी रहे तब बादर संज्वलनलोभ का आगाल होना बन्द हो जाता है, मात्र उदीरणा ही होती है और वह उदीरणा भी एक आवलिका पर्यन्त होती है।

किटिकरणाद्वा के संख्याता भाग जायें तब संज्वलनलोभ का स्थितिबंध अन्तमुँहूर्त प्रमाण तथा इनावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्म का दिवसपृथक्त्वप्रमाण तथा नाम, गोत्र और वेदनीय का बहुत से हजार वर्ष का स्थितिबंध होता है। उसके बाद किटिकरणाद्वा के चरम समय में संज्वलनलोभ का स्थितिबंध अन्तमुँहूर्त का होता है। किन्तु किटिकरणाद्वा के संख्याता भाग जाने पर संज्वलनलोभ का जो अन्तमुँहूर्त बंध हुआ था उससे यह अन्तमुँहूर्त छोटा समझना चाहिए। जानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का एक रात्रि-दिवस और नाम, गोत्र, वेदनीय का कुछ कम दो वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है। आगालविच्छेद होने के बाद जो एक उदीरणावलिका रहती है, उसका जो चरम समय, वही किटिकरणाद्वा का तथा नीवें गुणस्थान का चरम समय है।

अब किटिकरणाद्वा के चरम समय में होने वाले कार्य का निर्देश करते हैं।

किटिकरणाद्वा के चरम समय में सम्भव कार्य

लोहस्स अणुवसंतं किटी उदयावली य पुञ्चुत्तं ।

बायरगुणेण समगं दोणिवि लोभा समुदसन्ता ॥८१॥

शब्दार्थ—लोहस्स—लोभ का, अणुवसंतं—अनुपांत, किटी—किटियाँ, उदयावली—उदयावलिका, य—और, पुञ्चुत्तं—पूर्वोक्त (समय न्यून दो आवलिका काल में बंदा हुआ दलिक) बायरगुणेण—बादर संपराय-

गुणस्थान के समां—साथ, दोषिति—दोनों ही, लोभ—लोभ, समुच्चेदता—लुपणात् होते हैं।

गायार्थ—उस समय किट्टियाँ, उदयावलिका और समय न्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक ही अनुपशांत है। बादरसंपरायगुणस्थान के साथ दोनों लोभ शांत होते हैं।

विशेषार्थ—किट्टिकरणाद्वा के चरम समय में किट्टिकरणाद्वा काल में की गई द्वितीयस्थिति में रही हुई किट्टियाँ, समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक और उदयावलिका इतना ही संज्ञलन लोभ अनुपशमित वाकी रहता है, शेष सब शांत होता है। तथा उसी चरम समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ संपूर्ण शांत होता है तथा अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान भी पूर्ण होता है एवं बादर संज्ञलनलोभ के उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है और दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। तथा—

सेसदृं तणुरागो तावइया किट्टिओ उ पठमठिई ।

वज्जिय असंखभागं हिद्धुवरिमुदीरए सेसा ॥८२॥

शब्दार्थ—सेसदृं—शेष काल में, (किट्टिवेदनाद्वा काल में), तणुरागो—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान, तावइया—उतना ही, किट्टिओ—किट्टियों की, उ—और, पठमठिई—प्रथम स्थिति, वज्जिय—छोड़कर, असंखभाग—असंख्यतमें भाग, हिद्धुवरि—नीचे-ऊपर की, उदीरण—उदीरण, सेसा—शेष की।

१. अवशिष्ट उस उदयावलिका को दसवें गुणस्थान में मूलकिट्टियों में स्थित्वुकसंक्रम द्वारा संक्रमित कर अनुभव करता है, समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक इतने ही काल में शांत होता है और किट्टियों में कितनी ही किट्टियों को शोगकर क्षय करता है, कितनी ही को शांत करता है।

गाथार्थ—शेष काल में (किटिक्वेदनाद्वा काल में) सूक्ष्म-संपरायगुणस्थान होता है। सूक्ष्म किटियों की उतनी ही (दसवें गुणस्थान के काल जितनी) प्रथमस्थिति करता है तथा चरम-समय में की गई किटियों का खीचे का असंख्यातवाँ भाग और प्रथम समय में की गई किटियों का ऊपर का असंख्यातवाँ भाग छोड़कर शेष किटियों की उदीरणा करता है।

विशेषार्थ—बोभ की प्रथमस्थिति की अश्वकर्णकरणाद्वा, किटिकरणाद्वा और किटिवेदनाद्वा इस प्रकार तीन भागों में विभाजित करता है। उनमें के प्रथम दो भागप्रमाण प्रथमस्थिति का अनुभव नींवें गुणस्थान में करता है। उन दो भाग जितने काल में आपूर्वसर्वक और किटियाँ होती हैं और दोसरे किटिवेदनाद्वा विभाग में किटिकरणाद्वाकाल में की गई किटियों का वेदन करता है और उस समय सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में द्वितीयस्थिति में रही हुई किटियों में की कितनी ही किटियों को खीचकर उनकी अपने काल प्रमाण प्रथमस्थिति करता है। किटिकरणाद्वा काल की शेष रही उदयावलिका को स्तवुकसंक्रम द्वारा संक्रमित कर अनुभव करता है। दो समय न्यून दो आवलिका काल का बंधा हुआ दलिक जो अनुशमित शेष है, उसके इस गुणस्थान में उतने हो काल में उपशमित करता है।

सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के प्रथम समय में जो किटियों उदय में आती हैं उनमें की पहले और अन्तिम समय में की गई किटियों को छोड़कर प्रायः^१ उदय में आती हैं। प्रथमस्थिति में इस प्रकार से

१ यहाँ प्रायः शब्द देने का कारण यह प्रतीत होता है कि पहले समय में की गई किटियों का ऊपर का असंख्यातवाँ भाग यानि उत्कृष्ट रस वाली किटियों को छोड़कर और अन्तिम समय में की गई किटियों का खीचे का असंख्यातवाँ भाग यानि मध्यरस वाली किटियों को छोड़कर शेष की उदीरणा द्वारा खीचकर अनुभव करता है। अर्थात् उदय द्वारा नहीं परन्तु उदीरणा द्वारा पहले और अन्तिम समय की किटियों उदय में आती हैं।

स्थापित करता है कि पहले समय में जो किटिट्याँ उदय में आये वे किटिट्करणाद्वा काल में के पहले और अन्तिम समय में की गई किटिट्याँ न हों तथा चरम समय में की गई किटिट्यों का निचला असंख्यातवां भाग और पहले समय की गई किटिट्यों के ऊपर का असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष किटिट्यों की उदीरणा करता है। पहले और अन्तिम समय की किटिट्याँ सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के प्रथम समय में उदय को प्राप्त नहीं होती हैं किन्तु इस प्रकार ये उदीरणा द्वारा उदय को प्राप्त होती हैं। तथा—

गेष्हन्तो य मुयन्तो असंख्यागं तु चरिमसमर्थमि ।

उवसामिय बीयठिइं उवसंतं लभइ मुण्ठाण् ॥८३॥

शब्दार्थ—गेष्हन्तो—ज्ञान करना, य—और, मुयन्तो—छोड़ता हुआ, असंख्याग—असंख्यातवे गाय तो, १—वीर एवं प्रस-स्वर्ण चरमसमय में, उवसामिय—उपशमित करता है, बीयठिइ—द्विनीयस्थिति को, उवसंत—उपशान्तमोह, लभइ—प्राप्त करता है, मुण्ठाण—गुणस्थान ।

गाथार्थ—असंख्यातवे भाग को ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चरमसमय पर्यन्त जाता है। चरम समय में द्वितीय स्थिति को उपशमित करके उपशान्तमोहगुणस्थान प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के दूसरे समय में उदय-प्राप्त किटिट्यों के असंख्यातवे भाग को छोड़ता है। क्योंकि उसको किटिट्याँ उपशान्त हो जाती हैं,^१ जिससे उदय में नहीं आती है और

^१ यहीं उदयप्राप्त किटिट्यों के असंख्यातवे भाग को उपशमित करता है, यह संकेत किया है। परन्तु प्रश्न है कि उदयप्राप्त किटिट्याँ कैसे उपशमित हों? क्योंकि उदयप्राप्त किटिट्याँ तो प्रथम समय की किटिट्याँ हैं। प्रथमस्थिति को तो उदय-उदीरणा द्वारा भोगता है यह बताया है तो यहीं उपशम हो यह कैसे सम्भव है?

उसके साथ भोगने के लिये अपूर्व असंख्यातवें भाग को उदीरणाकरण द्वारा ग्रहण करता है। यानि दूसरे समय में उदयप्राप्त जितनी किटिट्यों होती हैं, उनके असंख्यातवें भाग को उपशमित कर डालता है, जिससे उतनी किटिट्यों का फलानुभव नहीं करता, परन्तु शेष किटिट्यों का फलानुभव करता है।

इस प्रकार प्रत्येक समय उदयप्राप्त किटिट्यों के असंख्यातवें भाग को छोड़ता और अपूर्व असंख्यातवें भाग को भोगने के लिए उदीरणाकरण द्वारा ग्रहण करता सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त जाता है तथा द्वितीयस्थिति में रहे हुए अनुपशान्त समस्त दलिकों को

(पृष्ठ १११ का शेष फुटनोट)

इसके उत्तर में वह सम्भावना हो सकती है कि दसवें गुणस्थान की विशुद्धि के माहात्म्य से प्रथमस्थिति की उदयप्राप्त किटिट्यों के असंख्यातवें भाग को भी द्वितीयस्थितिगत किटिट्यों के साथ उपशमित करता है। जैसे समुद्रधात के माहात्म्य से पुण्य प्रकृति के रस को पाप रूप करके भोगता है। अथवा जो दसवें गुणस्थान के कालप्रमाण प्रथमस्थिति की, उसे तो भोगकर ध्य करता है परन्तु सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में उदय आने योग्य जो किटिट्यों द्वारा स्थिति में रही हुई है, उनके असंख्यातवें भाग को उपशमाता और अपूर्व असंख्यातवें भाग को उदीरणाकरण द्वारा ग्रहण कर अनुभव करता है। इस प्रकार प्रति समय करते हुए दसवें गुणस्थान के चरमसमय तक जाता है। यहाँ चरम समय तक उदीरणाकरण द्वारा किटिट्यों को ग्रहण करना कहा है, परन्तु प्रथमस्थिति की एक आवलिका काकी रहे और उदीरणा नहीं होती यह नहीं कहा है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि किटिटकरणाद्वा काल में दसवें गुणस्थान में अनुभव करने योग्य जो किटिट्यों की हैं उनमें से ऊपर कहे अनुसार उपशमाना, उनको उदीरणाकरण द्वारा खीचकर अनुभव करना, इस प्रकार क्रिया करता चरम समय पर्यन्त जाता है। तत्व केवलीगम्य है।

भी सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के प्रथमसमय से लेकर चरमसमय पर्यन्त पूर्व पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय में असंख्य-असंख्यगुण उपशमित करता है तथा नीवें गुणस्थान के चरमसमय में समयमूल दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक जो अनुपशान्त था, उसे भी उम समय से लेकर उतने ही काल में दसवें गुणस्थान में उपशमित करता है।

सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरमसमय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का अन्तमुहूर्त का, नाम और गोचर कर्म का सौलह मुहूर्त का और वेदनीय का चौबीस मुहूर्त का स्थितिबंध होता है। उसी चरमसमय में द्वितीयस्थितिगत मोहनीयकर्म का समस्त दलिक पूर्णतया उपशमित हो जाता है और आगे के समय में उपशान्तमोहगुणस्थान प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में मोहनीय की अट्ठाईसप्रकृतियाँ सर्वथा शान्त होती हैं। उपशम का काल अन्तमुहूर्त प्रमाण है और यही उपशान्तमोहगुणस्थान है।

उपशान्तमोहगुणस्थान का स्वरूप

अन्तोमुहूर्तमेतत् तस्यवि संखेऽजभागतुल्लाओ ।

गुणसेढो सञ्चद्धु तुल्ला य पएसकालेहि ॥८४॥

शब्दार्थ—‘अन्तोमुहूर्तमेतत्’—अन्तमुहूर्त मात्र, तस्यवि—उसके भी, संखेऽजभाग तुल्लाओ—संख्यात्वे भाग के बराबर, गुणसेढो—गुणशेणि, सञ्चद्धु—सम्पूर्ण काल, तुल्ला—बराबर, य—और, पएसकालेहि—प्रदेश और काल से।

गाथार्थ—यह गुणस्थान अन्तमुहूर्त मात्र रहता है। उसके भी संख्यात्वे भाग प्रमाण गुणशेणि होती है और वह उसके सम्पूर्ण कालपर्यन्त काल एवं प्रदेश से अवस्थित होती है।

विशेषार्थ—उपशान्तमोहगुणस्थान का काल अन्तमुहूर्त है। इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म के अलावा शेष कर्मों में स्थितिघात, रसघात

और गुणश्चेणि ये तीन पदार्थ होते हैं। उनमें से गुणश्चेणि उपशांत-मोहगुणस्थान के काल के संख्यातवें भाग प्रमाण करता है, यानि उपशांतमोहगुणस्थान के संख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने समयों में गुणश्चेणि—दलरचना करता है और वह गुणश्चेणि प्रदेश एवं काल से समान है।

इस भुजस्थान में प्रत्येक समय के परिणाम एक सरीखे प्रति समय एक जैसे ही दलिक ऊपर की स्थिति में से उत्तरते हैं और सहश ही रचना होती है। यद्यनि उपशांतमोहगुणस्थान के पहले समय में जितने दलिक ऊपर से उतारे और प्रथमसमय से उस गुणस्थान के संख्यातवें भाग के समयों में जिस प्रकार से स्थापित किये, उतने ही दलिक दूसरे समय में उतारता है और उस (दूसरे) समय से उस गुणस्थान के संख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने में ही उसी प्रकार से स्थापित करता है। इसी प्रकार चरमसमय पर्यन्त जानना चाहिए।

शूर्व-पूर्व समय जैसे-जैसे कम होता जाता है; वैसे-वैसे ऊपर का एक-एक समय मिलता जाने से उपशांतमोहगुणस्थान के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण दलरचना का काल कायम रहता है। इसी कारण कहा है कि इस गुणस्थान में काल और प्रदेश की अपेक्षा गुणश्चेणि सराखी करता है तथा स्थितिधात, रसधात पूर्व की तरह हाता है किन्तु पतद्यग्रह के अभाव में गुणसंक्रम नहीं होता है। तथा—

करणाय नोबसंतं संकमणोबट्टणं तु दिट्ठितिगं ।

मोत्तुण विलोमेणं परिवडई जा पमत्तोति ॥५४॥

शब्दार्थ—करणाय—करण के योग्य, नोबसंत—उपशमित दलिक नहीं होता, किमणोबट्टण—संकमण और आपबर्तना, तु—किन्तु, दिट्ठितिग—दृष्टित्रिक की, मोत्तुण—छोड़कर, विलोमेण—विलोमकम से, परिवडई—गिरता है, जा—पावत्, पमत्तोति—प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक।

गाथार्थ—दृष्टित्रिक को छोड़कर उपशमित दलिक करण के

योग्य नहीं होता है। दृष्टिक्रिक में संक्रमण और अपवर्तना होती है। (इस गुणस्थान का काल पूर्ण होने पर) विलोमक्रम से यावत् प्रमत्तशंखत्प्रास्थात् तक गिरा है।

बिशेषार्थ—इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म की एक-एक (प्रत्येक) प्रकृति उपशमित है, जिससे उसमें किसी भी करण की योग्यता नहीं रहती है। अर्थात् उन प्रकृतियों में संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निधनि, निकाचना और उदीरणा करण प्रवर्तित नहीं होते एवं उनका उदय भी नहीं होता है। मात्र सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय को छोड़कर। क्योंकि उन तीन में अपवर्तना और संक्रम होता है। सक्रम तो मिथ्यात्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय में होता है और अपवर्तना तीनों में होती है। इस प्रकार जिसने क्रोध के उदय से श्रेणि आरम्भ की हो उसकी वर्णना यह समझना चाहिये।

जब मान के उदय से श्रेणि प्राप्त करे तब मान का अनुभव करता हुआ नपुंसकवेद में कहे गये क्रम से तीनों क्रोध को उपशमित करता है। तत्पश्चात् क्रोध के उदय में श्रेणि का आरम्भ करने वाले ने जिस क्रम से तीन क्रोध उपशमित किये थे, उसी क्रम से तीन मान को उपशमित करता है।

जब माया के उदय में श्रेणि आरम्भ करे तब माया का वंदन करता पहले नपुंसकवेद के क्रम से तीन क्रोध, उसके बाद तीन मान उपशमित करता है और उसके बाद क्रोध के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला जिस क्रम से तीन क्रोध उपशमित करता है, उसी क्रम से तीन माया उपशमित करता है।

जब लोभ के उदय में श्रेणि आरम्भ करे तब लोभ का वंदन करता हुआ पहले नपुंसकवेद को शांत करते जो क्रम कहा है, उसी क्रम से तीन क्रोध को, उसके बाद तीन मान को, तत्पश्चात् तीन माया को उपशमित करता है और उसके बाद क्रोध के उदय में श्रेणि

आरम्भ करने वाला जिस प्रकार से क्रोध को उपशमित करता है, उसी प्रकार से तीन लोभ को शांत करता है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि मान के उदय में श्रीणि आरम्भ करने वाले के संज्वलनक्रोध का बंधविच्छेद कहाँ होता है, यह नहीं बताया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि क्रोध के उदय में श्रीणि आरम्भ करने वाले के जहाँ क्रोध का बंधविच्छेद होता है, वही मान के उदय में श्रीणि आरम्भ करने वाले को भी क्रोध का बंधविच्छेद होता है और क्रोध के उदय में श्रीणि आरम्भ करने वाले को जैसे उसका बंधविच्छेद होने के बाद दो समयन्यून दो आवलिका में बंधा हुआ अनुपशमित शेष रहता है, वैसे ही मान के उदय में श्रीणि आरम्भ करने वाले के भी क्रोध का बंधविच्छेद होने के बाद दो समयन्यून आवलिका काल का बंधा हुआ अनुपशांत रहता है और उसे उतने ही काल में मान को भोगता हुआ उपशमित करता है। इसी प्रकार माया के उदय में श्रीणि आरम्भ करने वाले को क्रोध और मान के उदय के लिये समझना चाहिये। यानि माया के उदय में श्रीणि माङड़ने वाले के संज्वलन क्रोध का बंधविच्छेद होने बाद जो समयन्यून दो आवलिका काल का बंधा हुआ अनुपशांत है उसे उतने ही काल में मान को उपशांत करते हुए साथ ही उपशमित करता है और मान का बंधविच्छेद होने के बाद जो दो समयन्यून दो आवलिका काल का बंधा हुआ मान का दलिक अनुपशांत है, उसे उतने ही काल में माया को वेदन करते हुए उपशमित करता है। इसी प्रकार लोभ के उदय में श्रीणि आरम्भ करने वाला क्रोध के अवशिष्ट को मान के साथ, मान के अवशिष्ट को माया के साथ उपशमित करता है और माया के अवशिष्ट को लोभ का वेदन करने के साथ उपशमित करता है। विद्वानों से विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा है।

मोहनीय शांत किया हुआ होने से इस गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ा जाता है, किन्तु यहाँ अन्तमुहूर्त रहकर अवश्य पतन होता है। पतन का नाम इस प्रकार है—

उपशांतमोहगुणस्थान से प्रतिपत्ति दो प्रकार से होता है—
 १ भवक्षय और २ अद्वाक्षय—गुणस्थान का काल पूर्ण होने से । भवक्षय से प्रतिपत्ति मरने वाले का होता है । यदि उपशांतमोहगुणस्थान में किसी की आयु पूर्ण होती है तो वह मरकर सर्वार्थसिद्ध महाविमान में उत्पन्न होता है । मनुष्यायु के धरनसमधयंत व्यारहवां गुणस्थान होता है, परन्तु देवायु के प्रथमसमय से ही चतुर्थ मुण्डस्थान प्राप्त होता है और उसे प्रथमसमय से ही एक साथ सभी करण प्रवर्तित होते हैं । उदीरणाकरण से जो दलिक खींचता है, उन्हें उदयावलिका में क्रमबद्ध स्थापित करता है । जिन दलिकों की उदीरणा नहीं करता परन्तु अपवर्तनाकरण से नीचे उतारता है, उनको उदयावलिका के बाहर गोपुच्छाकार से स्थापित करता है और जो अन्तरकरण था यानि शुद्ध भूमिका थी, उसे दलिकों से भरदेता है और उन दलिकों का वेदन करता है । किन्तु जो उपशांतमोहगुणस्थान का अन्तमुहूर्त काल पूर्ण कर पतन करता है, वह जिस क्रम से स्थितिधातादि करता हुआ चढ़ता था, उसी क्रम से पश्चानुपूर्वी से स्थितिधातादि करता प्रमत्तसंयत-गुणस्थान तक गिरता है ।

यहाँ जो स्थितिधात आदि बतलाया है उसका आशय यह कि जैसे गुणस्थान पर प्रवर्धमान परिणाम की अत्यन्त विशुद्धि होने से अधिक-अधिक प्रमाण में स्थिति और रस का घात करता था, अधिक-अधिक दलिक उतार कर उदयसमय से लेकर अधिक-अधिक यथाक्रम स्थापित करता था और नवीन स्थितिबंध हीन-हीन करता जाता था । किन्तु अब गिरते समय परिणामों की मन्दता होने से अल्प प्रमाण में स्थिति और रस का घात करता है, स्थितिबंध बढ़ता जाता है और गुणश्रेणि विलोम करता है । अर्थात् निषेकरचना के अनुसार दलरचना करता है, जिससे उदयसमय में अधिक, उसके बाद अल्प-अल्प, इस प्रकार दलरचना करता है । जिसकी विधि इस प्रकार है—

ओकड्डिहत्ता दलियं पढमठिति कुणइ विहयठिहितो ।

उदयाइ विसेसूण आवलिउधिप असंखगुण ॥५६॥

जावहया गुणसेढी उदयवई तासु हीणगं परओ ।

उदयावलीमकाऊं गुणसेढि कुणइ इयराण ॥५७॥

शब्दार्थ—ओकड्डिहत्ता—अपकायितकर—खींचका० दलियं—दलिक, पढम-ठिति—प्रथमनिधि, कुणइ—करता है, विहयठिहितो—हितीयस्थिति में से, उदयाइ—उदयसमय से लेका० विसेसूण—विशेष न्यून-न्यून, आवलिउधिप—आवलिका के ऊपर, असंखगुण—अपंख्यातगुण ।

जावहया जितनी, गुणसेढी—गुणश्चेणि, उदयवई—उदयवती प्रकृतियों, तासु—इनमें, हीणगं हीन-न्यून-न्यून, परओ ताद में, उदयावलीमकाऊं—उदयावलिका किये विना, गुणसेढि—गुणश्चेणि, कुणइ—करता है, इयराण—इतर-अनुदयवती प्रकृतियों की ।

गाथार्थ—हितीयस्थिति में से दलिक खींचकर प्रथमस्थिति करता है । उदयसमय से लेकर विशेष न्यून-न्यून और आवलिका के ऊपर असंख्यातगुण स्थापित करता है ।

उदयवती प्रकृतियों में गुणश्चेणि शीषं पर्यन्त गुणश्चेणि के क्रम से निक्षेप करता है । बाद के समयों में न्यून-न्यून करता है । इतर-अनुदयवती प्रकृतियों में उदयावलिका किये विना ऊपर के समयों से गुणश्चेणिक्रम से गुणश्चेणि पर्यन्त दलरचना करता है ।

विशेषार्थ—उपशांतमोहगुणस्थान से गुणस्थान का काल पूर्ण कर गिरते हुए संज्वलनलोभ आदि कर्मों का अनुभव करता है । ग्यारहवें से दसवें गुणस्थान में आने पर पहले संज्वलनलोभ का अनुभव करता है उसके बाद नौवें गुणस्थान में जहाँ माया का विच्छेद हुआ था, वहाँ से सेकर माया का, तत्पश्चात् जहाँ मान का उदयविच्छेद हुआ था, वहाँ

से लेकर मान का, उसके बाद जहाँ क्रोब का उदयविच्छेद हुआ था, वहाँ से लेकर क्रोध का अनुभव करता है।

इस प्रकार चढ़ते हुए जिस समय जिसका उदयविच्छेद हुआ था, गिरते हुए वहाँ आने पर उसका उदय होता है। इस प्रकार ये क्रम-पूर्वक अनुभव करने के लिये द्वितीयस्थिति में से उनके दलिक खीचकर प्रथमस्थिति करता है। खीचे गये दलिकों की उदयसमन्वयादि समयों में विशेष न्यून-न्यून क्रम से स्थापित करता है। उदयसमय में अधिक दलिक स्थापित करता है, द्वितीयसमय में विशेष होन, इस प्रकार उदयावलिका के चरमसमयपर्यन्त गोपुञ्जाकार में दलिक स्थापित करता है और उदयावलिका के ऊपर के समयों में असंख्यात-असंख्यातगुण स्थापित करता है। उदयावलिका के ऊपर प्रथमसमय में उदयावलिका के चरमसमय के दलिक निक्षेप की अपेक्षा असंख्यात-गुण, उससे दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण, इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यातगुण दलिक उदयवती प्रकृतियों में गुणश्चेणीपर्यन्त स्थापित करता है—तत्पश्चात् विशेषहीन-विशेषहीन स्थापित करता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि तत्काल उदयवती प्रकृतियों की उदयावलिका में गोपुञ्जाकार रूप में दलिकनिक्षेप करता है—स्थापित करता है और उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर गुणश्चेणी के शीर्षपर्यन्त तो गुणश्चेणी के क्रम से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्यगुण दलिक और उसके बाद के समयों में विशेषन्यून-विशेषन्यून दलिक निक्षेप करता है और तत्काल अनुदववती जो प्रकृतियाँ हैं, उसकी उदयावलिका नहीं करता है—उदयावलिका में दलिक स्थापित नहीं करता है, परन्तु उस एक आवलिका को छोड़कर ऊपर के समय से लेकर गुणश्चेणी के शीर्षपर्यन्त पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्यगुण स्थापित करता है और उसके बाद अल्प-अल्प स्थापित करता है। तथा—

संक्रमउदीरणाणं नत्थि विसेसो उ एत्थ पुब्लुत्तो ।

जं जत्थ उ विच्छिन्नं जायं वा होइ तं तत्थ ॥८८॥

शब्दार्थ—संक्रमउदीरणाण—संक्रम और उदीरणा के, नत्थि—नहीं है, विसेसो—विशेष, उ—किन्तु, एत्थ—यहाँ, पुब्लुत्तो—पूर्व में कहे, जं—जिसका, जत्थ—जहाँ, उ ही, विच्छिन्नं विच्छेद, जायं—हुआ था, वा तथा, होइ—होता है, तं वह, तत्थ—वहाँ ।

गाथार्थ—पूर्व में कहे गये संक्रम और उदीरणा के सम्बन्ध में यहाँ विशेष नहीं है। जिसका जहाँ विच्छेद हुआ था तथा जो जहाँ होता था वहाँ वह होता है ।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणि पर चढ़ते संक्रम और उदीरणा के सम्बन्ध में जो विशेष कहा था, कि क्रमपूर्वक संक्रम होता है किन्तु अनानुपूर्वी से—उत्क्रम से संक्रम नहीं होता है, तथा अन्तरकरण के द्वितीयसमय से बंधे हुए कर्म की छह आवलिका जाने के बाद उदीरणा होती है, छह आवलिका में नहीं होती है ऐसा उदीरणा के सम्बन्ध में विशेष कहा था, वह विशेष उपशमश्रेणि से गिरते नहीं रहता है। उपशम श्रेणी से गिरते तो क्रमउत्क्रम दोनों प्रकार से संक्रम होता है, तथा बंधे हुए कर्म की बंवावलिका पूर्ण होने के बाद भी उदीरणा होती है तथा श्रेणि पर चढ़ते बंधन, संक्रमण, अपवर्तना, उद्वर्तना, उदीरणा, देशोपशमना, निधत्ति, निकाचना और आगच्छा का जिस समय विच्छेद हुआ था, गिरते उस समय के प्राप्त होने पर वे सब होते हैं तथा चढ़ते समय जिस स्थान पर स्थितिघात, रसघात आदि होते थे, गिरते समय वे उसी प्रकार विपरीत क्रम से होते हैं। तथा—

वेइज्जमाण संजलण कालाओ अहिगमोहगुणसेद्दी ।

पडिवत्तिकसाउदए तुल्ला सेसेहि कममेहि ॥८९॥

शब्दार्थ—वेइज्जमाण—वेद्यमान, संजलण—संज्वलन, कालाओ—

काल से, अहिंग—अधिक, मोहनुणसेही—मोहनीय की गुणश्रेणि, पद्धिवत्ति—प्राप्ति, कसाउदए—कषाय के उदय में, तुल्ला—तुल्य, सेमेहि—शेष, कस्मेहि—कर्मों के ।

गाथार्थ—मोहनीय की गुणश्रेणि लेखन संज्वलन के काल से अधिक होती है । जिस-जिस कषाय के उदय में श्रेणि की प्राप्ति होती है, उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मों के तुल्य होती है ।

विशेषार्थ—श्रेणि से गिरते मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की गुण-श्रेणि काल की अपेक्षा वेदमान संज्वलन के काल से अधिक काल प्रमाण करता है । चढ़ते समय की इह गुणश्रेणि के तुल्य करता है । अर्थात् श्रेणि पर चढ़ते समय जितने स्थानों में गुणश्रेणि के ब्रह्म से दलरचना हुई थी, गिरते समय भी उत्तने स्थानों में दलरचना होती है तथा जिस कषाय के उदय में उपशमश्रेणि पर आरूढ़ हुआ था—श्रेणि पर चढ़ा था, गिरते उसका जब उदय हो तब उसकी गुण-श्रेणि शेष कर्मों की गुणश्रेणि के तुल्य होती है । जैसे किसी ने संज्वलन क्रोध के उदय में श्रेणि प्राप्त की तो श्रेणि से गिरते जब उसे संज्वलनक्रोध का उदय हो तब वहाँ में उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मों के समान होती है । इसी प्रकार मान और माया के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये । परन्तु संज्वलनलोभ के उदय में उपशम-श्रेणि प्राप्त करने वाले के प्रतिपात काल में गिरते ही प्रथमसमय से संज्वलनलोभ की गुणश्रेणि शेष कर्मों की गुणश्रेणि के तुल्य होती है तथा शेष कर्मों के लिये तो जैसे चढ़ते समय का कथन किया है, उसी प्रकार पड़ते भी हीनाधिकता रहित जानना चाहिये । तथा—

खवगुवसामगपञ्चागयाण दुगुणो तहिं तहिं बधो ।

अणुभागोऽणंतगुणो असुभाण सुभाण विवरीओ ॥६०॥

शब्दार्थ—खवगुवसामगपञ्चागयाण—क्षणक, उपशमक और पतित उपशमक को, दुगुणो—दुगुना, तहिं तहिं—वहाँ-वहाँ, बधो—बन्ध, अणुभागो-

अलगुणो—इदुगुना अनन्त दुर्ग, अशुभाभ—शुभ प्रकृतियों का, सुभाण—
शुभ प्रकृतियों का, विवरीओ—विवरीत (अनन्तगुणहीन) ।

गाथार्थ—क्षपक, उपशमक और पतित उपशमक को वहाँ-
वहाँ क्रमशः दुगुना स्थितिबंध होता है और अशुभ प्रकृतियों का
अनुभाग अनन्तगुण अधिक और शुभ प्रकृतियों का विवरीत (अनन्त-
गुणहीन) बंधता है ।

विशेषार्थ—क्षपकश्चेण^१ पर चढ़ते क्षपक को जिस-जिस स्थान
पर जितना-जितना स्थितिबंध होता है, उससे भी उपशमश्चेण पर
चढ़ते उपशमक को उसी स्थान पर दुगुना-दुगुना स्थितिबंध होता है
और उससे भी उपशमश्चेण से गिरते हुए के उसी स्थान पर दुगुना-
दुगुना बंध होता है । अर्थात् क्षपक के बंध की अपेक्षा चार गुना स्थिति-
बंध होता है । तथा—

क्षपक को जिस स्थान पर अशुभ प्रकृतियों का जितना रसबंध
होता है, उसकी अपेक्षा उसी स्थान पर उपशमक को अनन्तगुण
अनुभाग—रसबंध होता है । उससे भी उसी स्थान पर उपशमश्चेण
से गिरते हुए के अनन्तगुण रसबंध होता है किन्तु शुभ प्रकृतियों का
रसबंध अशुभ प्रकृतियों के रसबंध से विपरीत होता है । अर्थात् शुभ
प्रकृतियों का क्षपक के जिस स्थान पर जितना रसबंध होता है,
उससे उपशमक को श्चेण पर चढ़ते उसी स्थान पर अनन्तगुणहीन
रसबंध होता है और उससे भी उपशमश्चेण से गिरने वाले के
उसी स्थान पर अनन्तगुणहीन रसबंध होता है तथा—

परिवाढोए पडिउं पमत्तइयरत्तणे बहू किच्चा ।

देसजई सम्मो वा सासणभावं वए कोई ॥६१॥

शब्दार्थ—परिवाढोए—ऋषीपूर्वक, पडिउं—गिरकर, पमत्तइयरत्तणे—
प्रमत्त और इतर अप्रमत्तपने, बहू—बर्नेक बार, किच्चा—करके, देसजई—

१. क्षपकश्चेण का स्वरूप छठे कर्मचर्य (सप्ततिका) में देखिये ।

देशविरति, सम्मो—अविरतसम्यक्त्व, वा—अथवा, सासादनभाव—सासादनभाव को, वह—प्राप्त करता है, कोई—कोई।

गाथार्थ—प्रमत्तगुणस्थान तक तो क्रमपूर्वक पड़ता है।

फिर अनेक बार प्रमत्त और अप्रमत्तपने में परावर्तन करके कोई देशविरति होता है, कोई सासादनभाव द्वे प्राप्त करता है।

द्विशेषार्थ—जिस क्रम से उपशमधेणि पर चढ़ा था, यानि चढ़ते हुए जिस क्रम से जिस-जिस गुणस्थान का स्पर्श किया था, यिसी उसी क्रम से उस-उस गुणस्थान का स्पर्श करता प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक आता है, अर्थात् दसवां, नौवां इत्यादि इस विलोम क्रम से गुणस्थान स्पर्श करता आता है। तत्पदचार प्रमत्त और अप्रमत्त संयत इन दोनों गुणस्थानों में अनेक बार परावर्तन करके कोई देशविरति होता है, कोई अविरतसम्यदृष्टि होता है और जिनके मत से अनन्तानुबंधिकषाय की उपशमना होती है, उनके मतानुसार कोई सासादनगुणस्थान को भी प्राप्त होता है और वहाँ में गिरकर मिथ्यात्म में जाता है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में परावर्तन कर यदि कोई तदभवमोक्षगामी जीव हो तो ध्यपकश्चेणि मांडि सकता है एवं कोई उपशम श्चेणि भी मांडि सकता है, तथा कोई चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में क्षायेपश्चिमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर वहाँ दिवर भी हो सकता है। तथा—

उवसमसमतद्वा अंतो आउक्खया धुवं देवो ।

जेण तिसु आउएसु बद्धेसु न मेडिमारहई ॥६२॥

शब्दार्थ—उवसमसमतद्वा अंतो—उपशमगम्यकल्पकाल में, आउक्खया—आयुक्तय होने पर, धुवं—ध्रवश्य, देवो—देव, जेण—जिसने, तिसु—तीन, आउएसु—आपु में से, बद्धेसु—बांधा हो, न—नहीं, सोडिमारहई—ये ये पर आरोहण करता है।

गाथार्थ—उपशमसम्यक्त्व के काल में आयु क्षय होने पर अवश्य देव होता है। किन्तु जिसने तीन आयु में से किसी एक आयु को बांधा हो वह श्रेणि पर आरोहण नहीं करता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के काल में रहते जो कोई आयु पूर्ण हो जाने से काल करे तो अवश्य देव होता है। क्योंकि नारक, तिर्यच और मनुष्य सम्बन्धी आयु का बांध किया हो तो उपशमश्रेणि पर चढ़ नहीं सकता है, परन्तु वैमानिक देव सम्बन्धी आयु बोही हो तभी उपशमश्रेणि पर चढ़ सकता है तथा उपशमसम्यक्त्व के काल में मरण को प्राप्त हो तो देव ही होता है। तथा—

सेद्धिपदिओ तम्हा छडावलि सासणो वि देवेसु ।

एगभवे दुवखुतो चरितमोहं उवसमेज्जा ॥६३॥

शब्दार्थ—सेद्धिपदिओ—श्रेणि से पतित, तम्हा—उस कारण से, छडावलि—छह आवलिका, सासणो—सासादनगुणस्थान वाला, वि—भी, देवेसु—देव में, एगभवे—एक भव से, दुवखुतो—दो बार, चरितमोह—चारित्रमोह को, उवसमेज्जा—उपशमित कर सकता है।

गाथार्थ—उस कारण से श्रेणि से पतित जिसका छह आवलिका काल है वह सासादनगुणस्थान वाला भी मरण कर देव हो सकता है। एक भव में दो बार चारित्रमोह को सबंधा उपशमित कर सकता है।

विशेषार्थ—देवायु को छोड़कर शेष तीन आयु में से किसी भी आयु को बांधने के बाद उपशमश्रेणि पर चढ़ नहीं सकता है, इसलिए श्रेणि से गिरकर उत्कृष्ट छह आवलिका और जघन्य एक समय जितना जिसका काल है, उस सासादनगुणस्थान में भी काल करे तो मरकर अवश्य देव होता है। तात्पर्य यह है कि आयु के बांधने के बाद यदि उपशमश्रेणि पर चढ़ तो वैमानिक देव की आयु बांधने के बाद

ही चढ़ता है, परभवायु बांधे बिना भी उपशमश्रेणि पर चढ़ सकता है, वह अन्तरकरण पूर्ण होने के बाद आयु बांध सकता है। तथा—

एक भव में अधिकसे-अधिक दो बार ही चारित्रमोहनीयकर्म को सर्वथा उपशमित करता है। जो जीव एक भव में दो बार उपशमश्रेणि मांडता है, वह उस भव में क्षपणा नहीं मांड सकता है, चारित्रमोहनीय की क्षपणा नहीं कर सकता है। परन्तु जिसने एक जन्म में एक बार चारित्रमोहनीय की उपशमना की हो, उसको उस भव में क्षपणा हो भी सकती है—कदाचित् चारित्रमोहनीय की क्षपणा हो भी सकती है। परन्तु इससे यह आशय ग्रहण नहीं करना चाहिये कि चारित्रमोहनीय की क्षपणा करने से पहले चारित्रमोहनीय की उपशमना जरूरी है। चारित्रमोहनीय की उपशमना किये बिना भी चारित्रमोहनीय की क्षपणा कर सकता है तथा एक जन्म में उपशम और क्षपक इस तरह दोनों श्रेणियां चढ़ सकता है। यह कार्मग्रन्थिक विभिन्न है। लिखु यागमिन्द अस्तित्रादनुसार तो एक भव में उपशम और क्षपक इन दोनों में से एक ही श्रेणि पर चढ़ सकता है। कहा भी है—

अथयरसेदिवस्य एव वेण च सञ्चाहं ।

दोनों में से एक श्रेणि के सिवाय एक भव में देशविरति, सर्वदिवरति चारित्र आदि सभी प्राप्त कर सकते हैं। तथा—

‘मोहोपशम एकलिन् भवे द्विः स्पावसन्ततः ।

यस्मिन् भवे तूपशमः क्षयोमोहस्य तत्र न ॥’

एक भव में मोह का उपशम दो बार हो सकता है। परन्तु जिस भव में मोह का सर्वोपशम हुआ हो उस भव में मोह का सर्वथा क्षय नहीं होता है।

इस प्रकार पुरुषवेद से श्रेणि प्राप्त करने वाले की अपेक्षा विभि

है। अब स्त्रीवेद और नपुंसकवेद से उपशमधेणि प्राप्त करने वाले को अपेक्षा विधि प्रक्रिया बतलाते हैं।

स्त्री-नपुंसकवेदापेक्षा उपशमधेणि विधि।

द्विचरिमसमये नियगोट्यस्स इत्थीनपुंसगोणोणं ।

समयित्तु सत्त पच्छा किन्तु नपुंसो कमारद्धे ॥६४॥

शब्दार्थ—द्विचरिमसमये—द्विचरम समय में, नियगोट्यस्स—अपने उदय के, इत्थीनपुंसगो—स्त्री और नपुंसक वेद, गोण—अन्योन्य—एक दूसरे को, समयित्तु—उपशम करके, सस—सात प्रकृतियों को, पच्छा—पश्चात्, किन्तु—लकिन, नपुंसो—नपुंसकवेद, कमारद्धे—क्रम प्रारम्भ करने पर।

गाथार्थ—स्त्री और नपुंसक अपने उदय के द्विचरम समय में अन्योन्य वेद को उपशमित करता है, तत्पश्चात् सात प्रकृतियों को उपशमित करता है परन्तु नपुंसकवेद से श्रेणि क्रम आरम्भ करने पर पहले नपुंसकवेद को और तुछ समय बाद स्त्रीवेद का उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

विशेषार्थ—अभी तक यह बताया है कि पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला किस क्रम से चारित्रमाहनीय की प्रकृतियों को उपशमित करता है। अब स्त्री या नपुंसकवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला किस क्रम से उपशमित करता है, यह स्पष्ट करते हैं—

जब स्त्रीवेद के उदय में कोई उपशमधेणि प्राप्त करता है तब पहले नपुंसकवेद को उपशमित करता है। उसके बाद स्त्रीवेद अपने उदय के द्विचरम समय पर्यन्त उपशमित करता है। अपने उदय के द्विचरम समय में अंतिम एक उदयसमय को छोड़कर स्त्रीवेद का समस्त दलिक शांत हो जाता है। उस एक अंतिम उदयस्थिति को भोग लेने के बाद अवेदक होकर हास्यपट्टक और पुरुषवेद इन सातों प्रकृतियों को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है और शेष कथन

पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के समान समझना चाहिए।

स्त्रीगेद वा पुरुषवेद के उदय में श्रेणि त्वीकार करने वाला जिस स्थान में नपुंसकवेद को उपशमित करता है, उस स्थान पर्यन्त नपुंसकवेद के उदय में श्रेणि माँड़ने वाला नपुंसकवेद को ही उपशमित करने की क्रिया करता है। उसके बाद नपुंसकवेद और स्त्रीवेद इन दोनों की एक साथ उपशमित करता है। इस प्रकार नपुंसकवेदोदय के द्वितीयसमयपर्यन्त दोनों को उपशमित करता है। उस द्वितीयसमय में स्त्रीवेद सर्वथा उपशमित हो जाता है और नपुंसकवेद की एक उदयस्थिति शेष रहती है। वह एक उदयस्थिति भी भोगी जाने के पश्चात् हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है और इसके बाद का क्रम पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के समान समझना चाहिये।^१

इस प्रकार से भोग्नीयकर्म के सर्वोपशम का स्वरूप जानना चाहिये।^२ अब देवोपशमना का प्रतिपादन करते हैं।

१. पुरुषवेद का वंधविच्छेद कही होता है और वंधविच्छेद होने के बाद जैसे समयोन दो आवलिका में बंधा हुआ अनुपशात् रहता है, वह यहाँ रहता है या नहीं, वह नहीं कहा है। परन्तु ऐस कथन पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले की तरह समझना चाहिये, कहा है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के जहाँ उसका वंधविच्छेद होता है, वहीं स्त्रीवेद या नपुंसकवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के भी पुरुषवेद का वंधविच्छेद होना है और वंधविच्छेद के समय समयोन दो आवलिका में बंधा हुआ जाए अनुपशात् रहता है, उसे उतने ही समय में उपशमित करता है।

२. कोशादि कषायोदय और अन्यतर वेदोदय में श्रेणि प्रारम्भक का विवरण परिशिष्ट में देखिये।

देशोपशमना का स्वरूप, स्वामी

मूलुत्तरकम्माणं पगडिट्ठतिमादि होइ चउभेया ।

देसकरणेहि देसं समझ जं देससमणा तो ॥६५॥

उवट्टण ओवट्टण संकमकरणाइं होंति नणाइ ।

देसोवसामियस्सा जा पुञ्चो सब्बकम्माणं ॥६६॥

शब्दार्थ—मूलुत्तरकम्माणं—मूल और उत्तर कर्मप्रकृतियों के, पगडिट्ठतिमादि—प्रकृति, स्थिति आदि, होइ—होते हैं, चउभेया—चार भेद, देसकरणेहि—देशकरणों से, देसं—एकदेश, समझ—शमित करता है, जं—कर्मोंकी, देससमणा—देशोपशमना, तो—अतः ।

उवट्टण—उद्वर्तना, ओवट्टण—अपवर्तना, संकमकरणाइं—संकमकरण, होंति—होते हैं, नणाइं—अन्य नहीं, देसोवसामियस्सा—देशोपशमना के स्वामी, जा पुञ्चो—अपूर्वकरणगुणस्थान तक, सब्बकम्माणं—सभी कर्मों के ।

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियों के प्रकृति, स्थिति आदि चार भेद होते हैं । देशकरणों से उनके एक देश को शमित करता है, अतः देशोपशमना कहते हैं ।

देशोपशमना द्वारा शमित दलिक में उद्वर्तना, अपवर्तना और संकम ये तीन करण होते हैं, शेष नहीं होते हैं । अपूर्वकरणगुणस्थान तक के जीव सभी कर्मों की देशोपशमना के स्वामी हैं ।

विशेषार्थ—सर्वोपशमना का विस्तार से स्वरूप निर्देश करने के पश्चात् अब देशोपशमना का विचार प्रारम्भ करते हैं—

देशोपशमना इस नामकरण का कारण यह है कि करण के एक-देश—यथा प्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण इन दोनों करणों के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग (रस) और प्रदेश के असुक भाग को उपशमित करना, किन्तु सर्वोपशमना की तरह सम्पूर्ण भाग को उपशमित नहीं करना देशोपशमना कहलाती है । देशोपशमना द्वारा उपशमित दलिकों में

मात्र संक्रम, उद्वर्तना, अपवर्तना यहीं तीन करण नागू होते हैं। देशोपशमना मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियों की होती है तथा उनके जो प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश ये चार भेद हैं, उन प्रत्येक की होती है। जिससे मूलप्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस प्रकार देशोपशमना के दो भेद हैं और वे दोनों भी प्रत्येक प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के भेद से चार-चार प्रकार के हैं। इस प्रकार देशोपशमना के आठ भेद होते हैं।

यह देशोपशमना सर्वोपशमना की तरह केवल मोहनीयकर्म की ही नहीं, किन्तु सभी—आठों कर्मों की होती है।

इस देशोपशमना द्वारा मूल अथवा उत्तर प्रकृतियों को उपशमित करने के स्वामी सामान्य से अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त वर्तमान प्रत्येक जीव हैं। यानि सभी एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, शीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी-संज्ञी पञ्चन्द्रिय तिर्थज्ञ, देव, नारक और मनुष्य देशोपशमना के स्थानी हैं। उनमें से मनुष्य तो अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमय तक वर्तमान स्वामी है। क्योंकि मनुष्यों को ही आठवाँ अपूर्वकरणगुणस्थान होता है और दूसरे जीव अपने-अपने गुणस्थान पर्यन्त ही देशोपशमना के स्वामी हैं।

लेकिन इस स्वामित्व के विषय में भी जो विशेष है, अब उसको स्पष्ट करते हैं।

देशोपशमना स्वामित्व विषयक विशेष

खवगो उवसमगो वा पढमकसायाण दंसणतिगस्स ।

देसोदसामगो सो अपूर्वकरणंतगो जाव ॥६७॥

शब्दार्थ—खवगो—क्षपक, उवसमगो—उपशमक, वा—अथवा, पढम-कसायाण—प्रथम कथाय के, दंसणतिगस्स—दर्शनमोहनिक, देसोदसामगो—देशोपशमक, सो—वह, अपूर्वकरणंतगो—अपूर्वकरण के चरमसमय, जाव—तक पर्यन्त।

गाथार्थ—तीन करण करते हुए अपने अपूर्वकरण के चरम-समय तक के क्षपक अथवा उपशमक प्रथम कषाय और दर्शन मोहत्रिक के देशोपशमना (देशोपशमना के स्वामी) हैं।

विशेषार्थ—सामान्य से तो सभी कर्मों की देशोपशमना अपूर्वकरण-गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही होती है, परन्तु जिस गुणस्थान में प्रथम कषाय - अनन्तानुबंधि की विसंयोजना अथवा उपशमना करने एवं मिथ्यात्व और दर्शनमोहत्रिक की उपशमना और क्षपणा करने के लिये तीन करण करता है, उनमें अपूर्वकरण तक ही उन-उन प्रकृतियों की देशोपशमना होती है। जैसे— अनादि मिथ्यादृष्टि चारों गति के संज्ञी पर्याप्त उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये मिथ्यात्वमोहनीय की उपशमित करने मिथ्यात्वगुणस्थान में तीन करण करता है, उसमें मिथ्यात्वमोहनीय की देशोपशमना अपूर्वकरण के चरम-समय पर्यन्त ही होती है।

अनन्तानुबंधि कषायों की विसंयोजना करने के लिये चारों गति के संज्ञी पर्याप्त स्व-स्व प्रायोग्य चौथे से सातवें गुणस्थान में रहते तीन करण करते हैं। अनन्तानुबंधि कषायों की उपशमना करने के लिये सर्वविरति मनुष्य ही तीन करण करते हैं और उनकी देशोपशमना उन तीन करणों में से अपूर्वकरण के चरमसमयपर्यन्त ही होती है।

दर्शनमोहत्रिक की क्षपणा के लिये चौथे से सातवें गुणस्थान तक प्रथमसंहनन—बज्रऋषभनाराच संहनन वाला तीन करण करता है और उसकी उपशमना के लिये सर्वविरति मनुष्य ही तीन करण करते हैं। उनमें के अपूर्वकरण तक ही उसकी देशोपशमना होती है और अन्य कर्मों की देशोपशमना तो अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमय पर्यन्त होती है।

इस प्रकार से देशोपशमना के स्वरूप और स्वामित्व का विचार करने के पश्चात् अब साधादि प्ररूपणा करते हैं।

सादि-अनादि प्ररूपणा

साइयमाइचउद्धा देसुवसमणा अणाइसंतीण ।

मूलुत्तरपगईणं साइ अधुवा उ अधुवाओ ॥८८॥

शब्दार्थ— साइयमाइचउद्धा—सादि आदि चार प्रकार की है, देसुवस-
मणा—देशोपशमना, अणाइसंतीण—अनादिसत्ता वाली, मूलुत्तरपगईण—मूल
और उत्तर प्रकृतियों की, साइ—सादि, अधुवा—अधुव, उ—और, अधु-
वाओ—अधुवसत्ता वाली ।

गाथार्थ— अनादिसत्ता वाली मूल और उत्तर प्रकृतियों की
देशोपशमना सादि आदि चार प्रकार की है और अधुवसत्ता वाली
प्रकृतियों की सादि और अधुव है ।

विशेषार्थ— जिन मूल और उत्तर प्रकृतियों की ध्रुवसना—अनादि
काल से सत्ता है, उनकी देशोपशमना सादि, अनादि, ध्रुव और अधुव
इस प्रकार चार विकल्प वाली है ।

मूलकर्मप्रकृतियों में ये चार विकल्प इस प्राचार जानना चाहिए—
मूल आठ कर्मों की अपूर्वकरणगुणस्थान में आगे देशोपशमना होती
नहीं है, किन्तु वहाँ से पतन होने पर होती है, इसलिये सादि है । उस
स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया उसकी अपेक्षा अनादि और अभव्यों
की अपेक्षा ध्रुव है, क्योंकि अभव्य उस स्थान को प्राप्त करने वाले ही
नहीं हैं तथा भव्य उस स्थान का स्पर्श करेंगे, तब देशोपशमना का अंत
करेंगे, अतः उनकी अपेक्षा अधुव-सांत है । इस प्रकार में मूल कर्मों की
देशोपशमना के चार विकल्प जानना चाहिये ।

अब उत्तरप्रकृतियों में इन्हीं चार विकल्पों का निर्देश करते हैं—

शौक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, नारकद्विक,
सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और उच्चगोचर रूप उद्वलनयोग्य
तेर्विस तथा तीर्थकरनाम, आयुचतुष्टय, इस तरह अद्वार्द्वस प्रकृतियों

को छोड़कर शेष एक सौ तीस प्रकृतियाँ अनादिसत्ता वाली हैं। उनमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधि की देशोपशमना अपने-अपने अपूर्वकरण से आगे नहीं होती है और शेष सभी प्रकृतियों की अपूर्वकरण-गुणस्थान से आगे नहीं होती, उस स्थान से पतन होने पर होती है इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा अद्व—अनन्त और भव्य की अपेक्षा अद्व—सान्त हैं और जो उपर्युक्त अद्धार्द्दीपन अद्वृत्सत्ता वाली प्रकृतियाँ हैं, उनकी देशोपशमना उनके अद्वृत्सत्ता वाली होने से सादि और अद्वृत्सत्ता तरह दो विकल्प वाली हैं।

इस प्रकार से एक-एक प्रकृति की साद्यादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब प्रकृतिस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

प्रकृतिस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा

गोथाउथाण दोणहं चउत्थ छट्ठाण होइ छ सत्तण्हं ।

साइयमाइ चउढा सेसाणं एगठाणसस ॥६८॥

शब्दार्थ— गोथाउथाण—गोत्र और आयु के, शोष्ण—दो, चउत्थ—चौथे मोहनीय के, छट्ठाण—छह स्थान, होइ—होसे है, छ—छठे नाम-कर्म के, सत्तण्हं—सात स्थान, साइयमाइ—सादि आदि, चउढा—चार प्रवार के, सेसाणं—शेष कर्मों का, एगठाणसस—एक-एक स्थान।

गामार्थ— गोत्र और आयु के दो स्थान, चौथे मोहनीय के छह स्थान और छठे नामकर्म के सात स्थान हैं, वे सभी स्थान सादि आदि चार प्रकार के हैं, शेष कर्मों का एक-एक स्थान है।

विशेषार्थ— सत्ता में रही हुई एक या अनेक जितनी भी प्रकृतियों की एक साथ देशोपशमना हो सकती है, उनके समुदाय को स्थान कहते हैं।

गोत्रकर्म के देशोपशमना सम्बन्धी दो प्रकृतिस्थान हैं—१ दो-प्रकृतिक और २ एक-प्रकृतिक। जब तक उच्चगोत्र की उद्वलना नहीं की होती है, तब तक गोत्र की दोनों प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। इसलिये दो प्रकृतियों का पहला प्रकृतिस्थान और उच्चगोत्र की उद्वलना करे तब एक नीचगोत्र की सत्ता होती है, जिससे उस एक प्रकृति का दूसरा प्रकृतिस्थान होता है।

आयु कर्म के भी दो प्रकृतिस्थान हैं—१ दो-प्रकृति रूप और २ एक-प्रकृति रूप। जब तक परभवायु न बांधी हो तब तक भज्यमान एक ही आयु की सत्ता होती है। इसलिये एक-प्रकृति का पहला और जब परभवायु का बंध करे तब दो-प्रकृति का दूसरा प्रकृति-स्थान होता है।

इस प्रकार गोत्र के दो और आयु के दो इन चारों स्थानों की देशोपशमना इनके अध्युव होने से सादि और अध्युव—सांत दो विकल्प बाली हैं।

चौथे मोहनीयकर्म के देशोपशमना के योग्य छह प्रकृतिस्थान इस प्रकार हैं—इक्कीस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतियों के समुदाय रूप। जोष तेरह, चारह आदि प्रकृतिक प्रकृतिस्थान अनिवृत्तिबादग्रसंपरायगुणस्थान में होते हैं। अतएव वे देशोपशमना के योग्य नहीं हैं।

इन स्थानों में मे अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान मिथ्याहृष्टि, सासादन-सम्यग्हृष्टि और वेदकसम्यग्हृष्टि के होता है। सत्ताईम का जिसने सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना की हो ऐसे मिथ्याहृष्टि के, छब्बीस का जिसने मिथ्य तथा सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना की हो ऐसे मिथ्याहृष्टि अथवा अनादि मिथ्याहृष्टि के, पच्चीस का छब्बीस की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के सम्यक्त्व उत्पन्न करते अपूर्वकरण से आगे, क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व की देशोपशमना होती नहीं है, पच्चीस प्रकृतियों की ही हो सकती है तथा अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते अपूर्व-

करण से आगे छीबीस का, अश्वा और बीस वर्ग सत्ता वाले के चौबीस का, अनन्तानुबंधितवृक्ष और दर्शनत्रिक इन सात प्रकृतियों का जिसने क्षय किया है, ऐसे क्षायिकसम्याहृष्टि के इकठ्ठाम प्रकृतियों का सत्तास्थान होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्म के ये छह प्रकृतिस्थान देशोपशमना के योग्य हैं।

इन छह में से छबीस का स्थान छोड़कर शेष पाँच स्थानों के कादाचित्क होने से उनकी देशोपशमना सादि और अध्रुव इस तरह दो विकल्प वाली है और छबीस प्रकृतिक स्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। उसमें जिसने सम्यक्तव मिश्रमोहनीय की उद्वलना की, उसकी अपेक्षा अट्ठाईस से छबीस में आया, इसलिए सादि, अनादिमिश्राहृष्टि के अनादि, अभव्य के ध्रुव—अनन्त और भव्य के अध्रुव—सात।

इस प्रकार से मोहनीयकर्म की देशोपशमना योग्य प्रकृतिस्थानों की संख्या और उनके विकल्पों को जानना चाहिये।

अब छठे नामकर्म के देशोपशमना योग्य स्थान और उनके सादि आदि विकल्पों का निर्देश करते हैं—

नामकर्ग के देशोपशमना के योग्य एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतियों के समुदाय रूप सात प्रकृतिस्थान हैं। इनमें के आदि के चार स्थान अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त देशोपशमना के योग्य जानना चाहिये। शेष तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतिक ये तीन स्थान एकेन्द्रियादि में देवद्विकादि प्रकृतियों की उद्वलना के बाद होते हैं। उनकी देशोपशमना बे कर सकते हैं। शेष स्थान अपूर्वकरणगुणस्थान से आगे होते हैं। इसलिये बे देशोपशमना के अयोग्य हैं। इन सातों स्थानों की देशोपशमना, उन सभी स्थानों के अनित्य होने से सादि और अध्रुव—सात इस तरह दो विकल्प वाली है।

शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कमों का देशोपशमना आथर्वा एक-एक प्रकृतिस्थान इस प्रकार है—ज्ञानावरण और अन्तराय का पांच-पांच प्रकृतिस्थल दर्शनावरण का तीन प्रकृतिस्थल और वेदनीय का दो प्रकृतिस्थल इनका देशोपशमना सादि आदि चार विकल्प वाली है। अपूर्वकरण से आगे उनमें के एक भी प्रकृतिस्थान की देशोपशमना होती नहीं है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होती है इसलिये सादि, उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया उसकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव—अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव—सात है।

इस प्रकार से साद्यादि प्रलेपणा के साथ प्रकृति देशोपशमना का निरूपण पूर्ण हुआ। अब क्रमप्राप्त स्थिति-देशोपशमना के स्वरूप का विचार करते हैं।

स्थिति-देशोपशमना

उवसामणा ठिइओ उक्कोसा संकमेण तुल्लाओ।

इयरा वि किन्तु अभव्यउवलगअपुव्यकरणेमु ॥१००॥

शब्दार्थ—उवसामणा—देशोपशमना ठिइओ—स्थिति की, उक्कोसा—उत्कृष्ट, संकमेण—संतम के, तुल्लाओ—तुल्य, इयरा वि—इतर-जघन्य नहीं, किन्तु—किन्तु, अभव्यउवलग—अभव्य योग्य जघन्य स्थिति में वर्तमान उद्वलक, अपुव्यकरण तु—अपूर्वकरणवर्ती जीव के।

गाथार्थ—स्थिति की उत्कृष्ट देशोपशमना उत्कृष्ट सप्तम के तुल्य और जघन्य देशोपशमना भी जघन्य संकम-तुल्य है, किन्तु वह अभव्ययोग्य जघन्य स्थिति में रहते एकेन्द्रिय, उद्वलक अथवा अपूर्वकरणवर्ती जीव के होती है।

विशेषार्थ—मूल प्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस तरह स्थिति-देशोपशमना दो प्रकार की है तथा उन दोनों के

उत्कृष्ट और जन्म्य इस तरह दो-दो भेद हैं। उनमें से मूल अथवा त्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति देशोपशमना उत्कृष्ट संक्रम के समान है। अर्थात् अधिक से अधिक जितनी स्थिति का संक्रम होता है, उतनी स्थिति की देशोपशमना भी ही सकती है तथा संक्रमकरण में उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के जो स्वामी बताये हैं और जिस प्रकार से उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के विषय में सादि आदि विकल्पों का विचार किया है, उसी प्रकार से उत्कृष्ट देशोपशमना के सम्बन्ध में समझना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट देशोपशमना पूर्ण रूपेण उत्कृष्ट संक्रम के समान है।

इतर - जघन्यस्थितिदेशोपशमना भी जघन्यस्थितिसंक्रम जैसी है। परन्तु वह अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति में रहते हुए एकेन्द्रिय की जानना चाहिये। क्योंकि प्रायः समस्त कर्मों की अति जघन्य स्थिति उसी के होती है। परन्तु जो जीव उद्वलना योग्य तेहसि प्रकृतियों के उद्वलक हों, वे उन प्रकृतियों की उद्वलना करते अन्तिम पल्योपम के असंख्यतात्मे भागप्रमाण स्थितिखंड शेष रहे तब जघन्य स्थितिदेशोपशमना करते हैं। उनमें आहारकसप्तक, सम्यवत्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय की उद्वलना एकेन्द्रियादि सभी जीव करते हैं और शेष चीदह प्रकृतियों के उद्वलक एकेन्द्रिय ही हैं। जिससे उनकी जघन्य स्थितिदेशोपशमना वही करते हैं। उसमें भी आहारकसप्तक की उद्वलना चार गुणस्थानों तक हो सकती है, इसलिये वहीं तक के जीव उनकी जघन्यदेशोपशमना के स्वामी हैं तथा जिस प्रकृति की मिथ्यादृष्टि के जघन्य स्थितिदेशोपशमना नहीं हो सकती है, उस लीर्थकरनामकर्म की अपूर्वकरण में जघन्य स्थितिदेशोपशमना होती है।

इस प्रकार से स्थितिदेशोपशमना का विवेचन जानना चाहिये। अब अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना का विचार करते हैं।

अनुभाग-प्रवेश देशोपशमना

अणुभाग पएसाणं सुभाण जा पुच्च मिच्छ इयराणं ।

उक्कोसियरं अभविय एगेंदि देससमणाए ॥१०१॥

शब्दार्थ—अणुभाग पएसाण—अनुभाग और प्रदेश की, सुभाण—सुभ प्रकृतियों की, जा पुच्च—अपूर्वकरण तक, मिच्छ—मिथ्यादृष्टि के, इयराण—इतर—अशुभ प्रकृतियों की, उक्कोसियर—उत्कृष्ट, इतर, अभविय—अभव्य, एगेंदि—एकेन्द्रिय, देससमणाए—देशोपशमना के ।

गाथार्थ—अणुभाग और प्रदेश की देशोपशमना रक्षण के तुल्य है । परन्तु शुभप्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना अपूर्वकरण तक और इतर—अशुभ प्रकृतियों की मिथ्यादृष्टि के होती है तथा जघन्यदेशोपशमना के अभव्ययोग्य जघन्य स्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय स्वामी हैं ।

विशेषार्थ—अनुभागदेशोपशमना और प्रदेशदेशोपशमना अनुक्रम से अनुभागसंक्रम और प्रदेशसंक्रम के तुल्य है । उसमें से पहले अनुभाग-देशोपशमना का विचार करते हैं—

जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से अनुभागदेशोपशमना दो प्रकार की है । उसमें जो जीव उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम का स्वामी है, वही जीव उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना का भी स्वामी है । लेकिन शुभप्रकृतियों की उत्कृष्ट देशोपशमना का स्वामी सम्यग्दृष्टि है । मात्र सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यशकीर्ति के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी अपूर्वकरणगुणस्यान से आगे के जीव भी हैं, किन्तु उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना के स्वामी अपूर्वकरण तक के ही जीव हैं । यानि किसी भी शुभप्रकृति की उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना के स्वामी अपूर्वकरण तक में वर्तमान सम्यग्दृष्टि जीव ही है ।

इतर—अनुभवप्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना का स्वामी उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम के स्वामी के समान मिथ्याहृष्ट है। तथा—

जघन्य अनुभागदेशोपशमना के रूपमें इस प्रकार चाहिए—लीर्थकरनाम के सिवाय सभी प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग देशोपशमना का स्वामी अभव्यसिद्धिक्योग्य जघन्यस्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय जीव है। यद्यपि ज्ञानावरणपंचक, संज्ञननक्षयाचतुष्क, दर्शनावरणचतुष्क, नव चौकथाय, अन्तरायपंचक इन सत्ताहैस प्रकृतियों का जघन्य संक्रम अपने-अपने अन्त समय कहा है, परन्तु वह नीबैं और दसवें गुणस्थान में होता है और अनुभागदेशोपशमना तो अपूर्वकरण तक ही होती है। जिसने इन सभा प्रकृतियों की जघन्य अनुभागदेशोपशमना का स्वामी अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति बाला एकेन्द्रिय है। अभव्यप्रायोग्य अति अल्पस्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव से अपूर्वकरण-गुणस्थान वाले के अनुभाग अनन्तगुण अधिक होता है। इसीलिये उक्त एकेन्द्रिय ही जघन्य अनुभागदेशोपशमना का स्वामी माना है।

लीर्थकरनामकर्म के जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामी ही उसकी जघन्य अनुभागदेशोपशमना का भी स्वामी है।

इस प्रकार से अनुभागदेशोपशमना का वर्णन जानना चाहिये। अब प्रदेशदेशोपशमना का विचार करते हैं—

प्रदेशदेशोपशमना के जघन्य और उत्कृष्ट यह दो भेद हैं। उनमें से उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम तुल्य है। यानि जो जीव जिन प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना का स्वामी है, वही जीव उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना का भी स्वामी है। मात्र उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना अपूर्वकरणगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये और जघन्य प्रदेशदेशोपशमना अभव्य प्रायोग्य जघन्य स्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय के ही होती है।

इस प्रकार से देशोपशमना का स्वरूप जानना चाहिये और इसके साथ उपशमनाकरण का वर्णन पूर्ण हुआ।

निष्ठति—निकाचना करण

उपशमनाकरण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त निष्ठति और निकाचना करण का प्रतिपादन करते हैं—

देसुवसमणा तुल्ला होइ निहत्ती निकायणा नवरि ।

संक्रमणं वि निहत्तीइ नत्यि सब्वाणि इयरीए ॥१०२॥

शब्दार्थ—देसुवसमणा—देशोपशमना के, तुल्ला—तुल्य, होइ—है, निहत्ती निकायणा—निष्ठति और निकाचना करण, नवरि—किन्तु, संक्रमण—संक्रमण, वि—भी, निहत्तीइ—निष्ठति में, नत्यि—नहीं होता, सब्वाणि—सभी, इयरीए—इनमें—निकाचना में।

गाथार्थ—देशोपशमना के तुल्य निष्ठति और निकाचना-करण हैं। मात्र निष्ठति में संक्रमण नहीं होता और निकाचना में सभी करण लागू नहीं होते हैं।

विशेषार्थ—निष्ठति और निकाचना इन दोनों करणों का स्वरूप देशोपशमना के तुल्य है। अथवा देशोपशमना में उसके भेद, स्वामी साद्यादि प्रस्तुपणा और प्रमाण आदि जो कुछ कहा गया है, वह सब जैसा का तैसा निष्ठति और निकाचना के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि देशोपशमना में संक्रमण, उद्वर्तना और अपवर्तना यह तीन करण प्रवर्तित होते हैं लेकिन निष्ठति में

उद्वर्तना और अपवर्तना इन दो करणों की प्रवृत्ति होती है और निकाचना में कोई भी करण सम्भव नहीं है। क्योंकि निकाचितदलिक समस्त करणों के अयोग्य हैं।

जहाँ-जहाँ गुणश्चेणि होती है, वहाँ प्रायः देशोपशमना, निर्दृति, निकाचना और यथाप्रवृत्तासंक्रम भी सम्भव हैं। इसलिये अब उनका परस्पर अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

गुणसेद्विपएसम्बं थोवं उवसामियं असंख्यगुणं ।

एवं निहय निकाद्य अहापवत्तेण संकर्तं ॥१०३॥

शब्दार्थ—गुणसेद्विपएसम्बं—गुणश्चेणि प्रदेशाश्र, थोवं—स्तोक, उवसामियं—उपशमित, असंख्यगुणं—असंख्यातगुण, एवं इसी प्रकार, निहय—निर्दृत्त, निकाद्य—निकाचित, अहापवत्तेणसंकर्तं—यथाप्रवृत्तयसक्रम से संकर्मित।

गाथार्थ—गुणश्चेणि प्रदेशाश्र स्तोक है, उससे उपशमित असंख्यातगुण है, इसी प्रकार अनुक्रम से निर्दृत्त और निकाचित रूप हुए और उससे यथाप्रवृत्तासंक्रम से संकर्मित असंख्यातगुण-असंख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—किसी भी करण की गुणश्चेणि में गुणश्चेणि द्वारा जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे जिनका कथन आगे किया जा रहा है, उनकी अपेक्षा अल्पस्तोक हैं। उनमें देशोपशमना द्वारा जो उपशमित होते हैं, वे असंख्यातगुण हैं, उनसे जो दलिक निर्दृत्ति रूप होते हैं, वे असंख्यातगुण हैं, उनसे निकाचित रूप दलिक असंख्यातगुण हैं और उनसे यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संकर्मित दलिक असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार से निर्दृत्ति एवं निकाचना करण की व्याख्या जानना चाहिये।

अब उपसंहार रूप में आठों करणों के अध्यवसायों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

ठिहबंधउदीरणतिविहसंकमे होैतिसंखगुण कम पो ।

अज्ज्ञवसाया एवं उवसामणमाइएसु कमा ॥१०४॥

शब्दार्थ—ठिहबंधउदीरणतिविहसंकमे—स्थितिबंध, उदीरण, विविध संक्रम में, होैति—होते हैं, अज्ज्ञवसा—असंख्यतामुण, लभते—उत्तुहते, अज्ज्ञवसाया—अध्यवसाय, एवं—और, उवसामणमाइएसु—उपशमना आदि में, कमा—कमा।

गाथार्थ—स्थितिबंध, उदीरण, विविध संक्रम और उपशमना आदि में अध्यवसाय अनुक्रम से असंख्यातगुण हैं।

बिशेषार्थ—गाथा में आगत ठिहबंध—स्थितिबंध शब्द से स्थिति और अनुभाग के बंध में कषाय रूप कारण समान होने से अनुभागबंध भी ग्रहण किया गया है। योग से होने वाले प्रकृति और प्रदेश बंध यहाँ ग्रहण नहीं किये हैं—इसीलिए स्थितिबंध यह पद रखा है। यानि स्थितिबंध और अनुभाग बंध के अर्थात् बंधनकरण के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प हैं। उनसे उदीरण के योग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं, उनसे उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रम इन तीन करणों के समुदित अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं, उनसे उपशमनायोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं, उनसे निरुक्तियोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं और उनसे भी निकाचनायोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार आठों करणों का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रम प्राप्त सप्ततिका प्रलृप्तिः अधिकार का विवेचन करेंगे।

॥ उपशमनादि करणश्चय समाप्त ॥

उगशमनादि करणक्रय-प्ररूपणा अधिकार

मूल गाथाएँ

देसुवसमणा सब्बाण होइ सब्बोवसामणा मोहे ।
 अपसत्या पसत्या जा करणुवसमणाए अहिगारो ॥१॥

सब्बुवसमणजोगो पञ्जत पणिदि सण्णि सुभलेसो ।
 परियत्तमाणसुभपगड्बंधगो ज्ञीब मुज्जंसो ॥२॥

असुभमुभे अणृभागे अणंतगुणहाणिबुडिढपरिणागो ।
 अन्तोकोडाकोडीठिझो आउ अवंधतो ॥३॥

बन्धादुत्तरवन्धे पन्निओवमसंसभागऊणूण ।
 सागारे उवओगे वट्टन्तो कुणड करणाई ॥४॥

पढमं अहापवत्तं वीयं तु नियट्टी तद्यमणियट्टी ।
 अतोमुहुचियाई उवसमअद्वं च अहृ वामा ॥५॥

आइल्लेसु दोसु जहन्नउक्कोसिया भवे सोही ।
 जं पइसमयं अज्जबसाया लोगा असेज्जा ॥६॥

पइसमयमणन्तगुणा सोही उड्डामुही लिरिच्छा उ ।
 अट्ठाणा जीवाण तइए उड्डामुही एकका ॥७॥

गन्तुं संखेजंसं अहापवत्तस्स हीण जा सोही ।
 तोए पढमे समये अणन्तगुणिया उ उक्कोसा ॥८॥

एवं एककंतरिया हेट्टुवरि जाव हीणपञ्जन्ते ।
 तत्तो उक्कोसाओ उवरुवरि होइ अणन्तगुणा ॥९॥

जा उक्कोसा पढमे तीसेणन्ता जहणिया बीए ।
 करणे तोए जेट्ठा एवं जा सब्बकरणपि ॥१०॥

अपुब्बकरणसभगं कुणइ अपुब्बे इमे उ चत्तारि ।
 ठितिवायं रसवायं गुणसेही बंधगद्वा य ॥११॥

उक्कोसेणं बहुसागराणि इयरेण पल्लसंखंसं ।
 ठितिअग्नाओ वायह अन्तमुहुत्तोण ठितिखंड ॥१२॥

असुभाण्टमुहुत्तोणं हणइ रसकंडगं अणंतंसं ।
 किरणे ठितिखंडाणं तंमि उ रसकंडगसहस्रा ॥१३॥

धाइय ठिईओ दलियं धेतु' धेतु' असंखगुणणाए ।
 साहियदुकरणकालं उदयाइ रएड गुणसेंडि ॥१४॥

करणाइए अपुब्बो जो जोहे सो न होइ रा अनो ।
 बंधगद्वा सा तुच्छिगा उ ठितिखंडगद्वा ॥१५॥

जा करणाइए निई करणने तोहि होइ संखंसो ।
 अणिअटिटकरणमओ मनावलिसंठियं कुणइ ॥१६॥

एवमनियद्टीकरणे ठितिवायाईणि होंति चरुरो वि ।
 संखेजज्जंसे सेसे पदमठिई अंतरं च भवे ॥१७॥

अन्तमुहुत्तियमेत्ताइ दोवि निम्मवद्व बंधगद्वा ।
 गुणसेंडिसंखभागं अन्तरकरणे उकिकरइ ॥१८॥

अंतरकरणस्स विहि धेतु' ठिईउ मज्जाओ ।
 दलियं पदमठिईए विच्छुभई तहा उवरिमाए ॥१९॥

हगदुगआवलिसोसाइ णत्थ पढमा उदीरणागालो ।
 पढमठिईए उदीरण बोयाओ एइ आगाला ॥२०॥

आवलिमेत्त उदएण वेहडं ठाइ उवसमद्वा ।
 उवसमियं तत्थ भवे सम्मते मोक्खवीयं जं ॥२१॥

उवरिमठिईअनुभागं तं च तिहा कुणइ चरिममिच्छुद्व ।
 देसधाईणं सम्म इयरेण मिच्छमीसाइ ॥२२॥

सम्मे शोबो मीसे असंखबो तस्ससंखओ सम्मे ।
 पहसमयं इय लेबो अन्तमुहुत्ता उ विज्ञाओ ॥२३॥

गुणसंकमेण एसो संकमो होइ सम्ममीसेसु ।
 अन्तरकरणमि ठिओ कुणइ जयो स पसत्थगुणो ॥२४॥
 गुणसंकमेणसमगं तिण्ण थककंत आजवज्जाण ।
 मिच्छतस्स उ इगिदुगआवलिसेसाए पढमाए ॥२५॥
 उवसंतद्वाअन्ते बिइए ओकडिद्यस्स दलियस्स ।
 अज्ञावसाणविसेसा एकसुदओ भवे तिण्ह ॥२६॥
 ज्ञावलियासेसाए उवसमअब्बाइ जाव इगसमर्थ ।
 असुभपरिणामओ कोइ जाइ इह सासण्ट्टपि ॥२७॥
 सम्मतेण समगं सब्बं देसं च कोइ पडियज्जे ।
 उवसंतदंसणी सो अन्तरकरणं ठिओ जाव ॥२८॥
 वेयगसम्मदिदिन् सोही अङ्गाए अजयमार्हया ।
 करणदुमेण उवसमं चरितमोहस्स चेट्टति ॥२९॥
 जाणणगहणणुपालणविरओ विरही अविरभोण्णेसु ।
 आद्विकरणदुगोणं पडिवज्जद् दोष्मण्णयर ॥३०॥
 उदयावलिए उप्पि गुणसेंदि कुणइ चरितेण ।
 अन्तो असंख्यगुणणाइ तत्तियं बढ़दई कालं ॥३१॥
 परिणामपञ्चएणं गमागमं कुणइ करणरहिओवि ।
 आभोगणटठचरणो करणे काऊण पावेइ ॥३२॥
 परिणामपञ्चएणं चउचिवहं हाइ बढ़दई वावि ।
 परिणामवढ़याए गुणसेंदि तत्तियं रथइ ॥३३॥
 सम्मुप्यायणविहिणा चउगवया सम्मदिदिठपज्जत्ता ।
 संजोयणा विजोयन्ति न उण पढमटिठन्ति करेति ॥३४॥
 उवरिमगे करणदुगे दलियं गुणसंकमेण तेसि तु ।
 नासेइ तओषच्छा अन्तमुहुत्ता सभावत्थो ॥३५॥

दंसणखबणस्सरहो जिणकालीओ पुमदृढवासुवरि ।
 अणणासकमा करणाइ करिय गुणसंकम तहय ॥३६॥
 अप्पुच्चकरणसमग्रं गुणउब्बलणं करेइ दोषहंपि ।
 तक्करणाइ जं तं ठिङ्संतं संखभागन्ते ॥३७॥
 एवं ठिहवंधो वि हु पविसइ अणियटिट्करणसमयंमि ।
 अप्पुच्चर्वं गुणसेद्धि ठितिरसखंडाणि वंधं च ॥३८॥
 देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहियं च होय दिठ्ठतिगं ।
 कमसो असणिचउरिदियाइतुल्लं च ठिनिसंतं ॥३९॥
 ठितिखंडसहस्राइ एककेकके अन्तरंमि गच्छन्ति ।
 पलिओवम् संखसे दंसणसंते तओ जाए ॥४०॥
 संखेज्जा संखिज्जा भागा खण्डइ सहस्रो तेवि ।
 तो मिच्छस्स असंखा संखेज्जा सम्ममीसाण ॥४१॥
 ततो बहुखंडते खंडइ उदयाबलीरहियमिच्छं ।
 ततो असंखभागा सम्ममीसाण खंडइ ॥४२॥
 बहुखंडते मीसं उदयाबलिबाहिरं खिवइ सम्मे ।
 अडवाससतकम्मो दंसणमोहस्स सो खवगो ॥४३॥
 अन्तमुहुत्तिथखंडं ततो उक्किरइ उदयसमयाओ ।
 निक्किलवइ असंखगुणं जा गुणसेढी परिहीण ॥४४॥
 उक्किरइ असंखगुणं जाव दुचरिमंति अंतिमे खंडे ।
 संखेज्जंसो खंडइ गुणसेढीए तहा देह ॥४५॥
 कयकरणो तक्काले कालंपि करेइ चउसु वि गइसु ।
 बेहयसोसो सेढी अणवरं वा समारुहइ ॥४६॥
 तदय चउत्थे तम्मि व भवंमि सिज्जति दंसणे खीणे ।
 ज देवनरयऽसंखाउ चरमदेहेसु ते होंति ॥४७॥

अहवा दंसणमोहं पद्यं उवसामइतु सामणे ।
 डिच्चा अणुदइयाण पद्मर्त्ति आवली नियमा ॥४५॥
 पद्मुवसमंव सेसं अन्तमुहुलाउ तस्स विज्ञाओ ।
 संकेसविसोहिओ पमत्तइयरत्तण बहुसो ॥४६॥
 पुणरवि तत्रि करणाउ करेइतइयामि एत्युपुण भेओ ।
 अन्तोकोडाकोडी बंधं संत च सत्तण्ह ॥४७॥
 ठिलखडं उक्केसंपि तस्स पल्लस्स संखतमभागं ।
 ठितिखंडं बहु सहस्रे एककेककं जं भणिससामो ॥४८॥
 करणस्स संखभाग सेसे य असणिमाइयाण समो ।
 बंधो कमेण पल्लं तीसाण तीसाण उ दिवड्ढं ॥४९॥
 मोहस्स दोणिण पल्ला सतेवि हु एवमेव अप्पनहू ।
 पलियमित्तमि वथे अणो संखेज्जगुणहीणो ॥५०॥
 एवं तीसाण युणो पल्लं मोहस्स होइ उ दिवड्ढं ।
 एवं मोहे पल्लं मेसाण पल्ससंखसो ॥५१॥
 तीसगतीसगमोहाण संतयं जहकमेण संखगुणं ।
 पल्ल असंख्यसो नामगोयाण तो बंधो ॥५२॥
 एवं तीसाणपि हु एक्कपहारेण मोहणीयस्स ।
 तीसगबसंखभागो ठितिबंधो संतय च भद्रे ॥५३॥
 तीसग असंखभागे मोहं पच्छा उ घाई तइयस्स ।
 तीसग तओ घाई असंखभागमिम बज्ज्ञात ॥५४॥
 असंखसमयबद्धाणुदीरणा होइ तंमि कालमिम ।
 देसघाइरसं तो मणपञ्जन अन्तगायाण ॥५५॥
 लाहोहीणं पच्छा भोगअचक्षुमुयाण तो चक्षु ।
 परिभोगमइणं तो विरियस्स असेदिगा घाई ॥५६॥

संजमवाईण तओ अंतरमुदओ उ जाण दोष्हं तु ।
 वेयकसायण्यये सोदयतुल्ला उ पदमटिठई ॥६०॥
 थीअपुमोदयकाला संखेजगुणा उ पुरिसवेयस्स ।
 तस्सवि विसेसअहिओ कोहे तत्तवि जहकमसो ॥६१॥
 अंतरकरणेण समं ठितिखंडगबंधगद्धनिप्फक्ति ।
 अंतरकरणाणंतरसमए जायति सत्ता इमे ॥६२॥
 एगट्ठाणाणुभागो बंधो उदीरणा य संखसमा ।
 अणुपुब्बी संकमणं लोहस्स असंकमो मोहे ॥६३॥
 बद्धं बद्धं छमु आबलीसु उवरेणुदीरणं एइ ।
 पंडगवेउवसमणा असंखमुणणाइ जावतं ॥६४॥
 अंतरकरणपविट्ठो संखासंखंसमोहद्यराणं ।
 बंधादुत्तारबंधो एवं इत्थीए संखसे ॥६५॥
 उवसंते धाईणं संखेजजसमा परेण संखसो ।
 बंधो सत्तण्हेवं संखेजजतमंमि उवसंते ॥६६॥
 नामगोयाण संखा बंधो बासा असंखिया तइए ।
 ता सब्बाण वि संखा तत्तो संखेजगुणहाणी ॥६७॥
 जं समए उवसंतं छक्कं उदयटिठई तया सेसा ।
 पुरिसे समऊणावलिदुगेण बंधं अणुबसंतं ॥६८॥
 आगालेण समगं पडिगहया फिडइ पुरिसवेयस्स ।
 सीलसवासिय बंधो चरिमो चरिमेण उदएण ॥६९॥
 तावइ कालेणं चिय पुरिसे उवसामए अवेदो तो ।
 बंधो बत्तीससमा संजलणियराण उ सहस्रा ॥७०॥
 अव्वेयपठमसमया कोहतिगं आढवेइ उवसमितं ।
 तिसु पडिगहया एका उदओ य उदीरणा बंधो ॥७१॥

किटटन्ति आवलीए सेसाए सेसयं तु पुरिससमं ।
 एवं सेसकसाया वेयह थिकुरोण आवलिया ॥७२॥
 चरिमदयमिम जहन्नो बंधो दुगुणो उ होइ उवसमगे ।
 तयणतरपणद्वै चउतम्गुणोणेसु संखगुणो ॥७३॥
 लोभस्स उ पठमठिह बिईयठिइओ उ कुणह तिविभागं ।
 दोसु दलणिक्खेवो तइयो पुण किटटीवेयद्वा ॥७४॥
 संताणि बज्जमाणग सरूबओ फड्डगाणि जं कुणह ।
 सा अस्सकण्णकरणद्वा मज्जमा किटिटकरणद्वा ॥७५॥
 अप्पुब्बविसोहीए अणुभागोणूण विभयण किटिट ।
 पढमसमयमि रसफहृडगवगणाणतभाग समा ॥७६॥
 सब्बजहन्नगफहृडगअणन्तगुणहाणिया उ ता रसओ ।
 पद्दसमयसंखंसो आइमसमया उ जावन्तो ॥७७॥
 अणुसमयमसंखगुणं दलियमणन्तसओ उ अणुभागो ।
 सब्बैसु मन्दरसमाइयाण दलियं विसेसूणं ॥७८॥
 आइमसमयकयाण मंदाईणं रसो अणन्तगुणो ।
 सब्बुक्कस्सरसा वि हु उवरिमसमयस्सङ्णतंसे ॥७९॥
 क्रिटिटकरणद्वाए तिसु आवलियासु समयहीणासु ।
 न पडिगहया दोण्हवि सट्ठाणे उवसमिज्जंति ॥८०॥
 लोहस्स अणुबसंतं किटटी उदयावली य पुब्बतो ।
 बायरगुणेण सभगं दोण्णवि लोभा समुवसन्ता ॥८१॥
 सेसद्वं तणुरागो तावइया किटिटओ उ पठमठिह ।
 वज्जिय असंखभागं हिट्ठुरिमुदीरए सेसा ॥८२॥
 गेष्हन्तो य मुमन्तो असंखभागं तु चरिमसमयमि ।
 उवसामिय बीयठिह उवसंतं लभह गुणठाणं ॥८३॥

अन्तोमुहूर्तमेल्तं तस्सवि संखेजभागतुल्लाओ ।
 गुणसेढी सब्बद्वं तुला य पएसकालेहि ॥८४॥
 करणाय नोवसंतं संकमणोबट्टणं तु दिद्धितिम् ।
 मोत्तुण विलोमेण परिवड्डै जा पमत्तोति ॥८५॥
 औकद्विद्वत्तादलियं पढमठिं कुणइ विइयठिइहितो ।
 उदयाइ विसेमूण आवलिउप्पि असंखगुणं ॥८६॥
 जावइया गुणसेढी उदयवई तामु हीणगं परओ ।
 उदयावलीमकाउं गुणसेनि कुणइ इयराण ॥८७॥
 संकमउदीरणाणं नतिथ विसेसो उ एत्य पुष्पुत्तो ।
 जं जत्य उ विच्छिन्नं जायं वा होइ तं तत्य ॥८८॥
 वेहज्जभाण संजलण कालाओ अहिमोहगुणसेढी ।
 पडिवत्तिकसाउदए तुल्ला सेसेहि कम्मेहि ॥८९॥
 खवगुवसाभगपञ्चागयाण दुगुणो तर्हि तर्हि बंघो ।
 अणुभागोऽण्ठंतगुणो असुभाण सुभाण विवरीओ ॥९०॥
 परिवाडीए पडिउं पमत्ताइयरक्षणे बहू किञ्चा ।
 देसजई सम्मो वा सासणभावं वए कोई ॥९१॥
 उवसमसमत्ताद्वा अन्तो आउखया दुवं देवो ।
 जेण तिसु आउएसु बद्देसु न सेदिपारहुई ॥९२॥
 सेदिपडिओ तम्हा-छडावलि सासणो वि देवेसु ।
 एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा ॥९३॥
 दुचरिमसमये नियगोदयस्स इत्थीनपुंसगोणोणो ।
 समयित्तु सत्त पञ्चा किन्तु नपुंसो कमारद्वे ॥९४॥
 मूलुत्तरकम्माणं पगडिद्धितिमादि होइ चउभेया ।
 देसकरणेहि देसं समइ जं देससमणा तो ॥९५॥

उवट्टण ओवट्टण संकमकरणाइ होति नण्णाई ।
 देसोवसामियस्सा जा पुब्वो सद्वकम्माण ॥६६॥
 उवगो उवसमगो वा पदमकसायणि दंसणतिगस्स ।
 देसोवसामगो सो अपुद्वकरणतरो जात्र ॥६७॥
 साइयमाइचउद्धा देसुवसमणा अणाइसंतीण ।
 मूलुत्तरपगईण साइ अघुवा उ अघुवाओ ॥६८॥
 गोयाउयाण दोष्हं चउत्थ छट्ठाण होइ छ सत्तप्हं ।
 साइयमाइ चउद्धा सेसाण एगठाणस्स ॥६९॥
 उवसामणा ठिइओ उक्कोसा संकमेण तुल्लाओ ।
 इयरा वि किन्तु अभव्वउछ्वलगबपुव्वकरणेसु ॥७०॥
 अणुभाग पएसाण सुभाण जा पुब्व मिच्छ इयराण ।
 उक्कोसियर अभविय एगेदि देससमणाए ॥७१॥

निष्ठसि—निकाचनाकरण

देसुवसमणा तुल्ला होइ निहत्ती निकायणा नवरि ।
 संकमण वि निहत्तीइ नहिथ सव्वाणि इयरोए ॥७२॥
 गुणसेढिपएसरग थोवं उवसामियं असंख्यगुण ।
 एवं निहय निकाइय अहापवत्तोण संकतं ॥७३॥
 ठिइबंधउदीरणतिविहसंकमे होतिझसंख्यगुण कमसो ।
 अज्ञवसाया एवं उवसामणमाइएसु कमा ॥७४॥



उपशमनादि करणब्रह्म-प्रकरणगत गाथाओं की अकाराद्यानुक्रमणिका

गाथांश	गा. सं./पृ. सं.	गाथांश	गा. सं./पृ. सं.
अणुसमग्रमसंख्यगुणं	७८/१०३	उवरिमठिडि अनुभागं	२२/३०
अणुभाग पासार्ण	१०१/१३७	उवसमसमतदा	६२/१२३
अपुञ्जव विसोहीए	७६/१०१	उवसामणा ठिल्हो	१००/१३५
अपुञ्जवकरण समगं	१२/१८	उवसंतदा अते	२६/३४
अयुञ्जकरणसमग्र कुण्ड	३७/५२	उवसंत घाईणं	६६/८५
अच्छेय पढम समया	७१/६१	एगटाणाणुमागो	६३/८८
असुभ सुषे अगुण्डे	३/५	एमर्तिक्यट्टुकरणं	१७/२५
असुभाण्णत मुहुत्तेण	१३/२०	एवं एकतरिया	८/१३
असंख्यमयबद्धा	५८/७६	एवं ठिल्हंधोवि हु	३८/५४
अहवा दंसणमोहं	४८/६५	एवं तीसाण पुगो	५४/७१
अंतोमुहूलमेत्तं	८४/११३	एवं तीसाणपि हु	५६/७३
अंतमुहूत्तियघुंडं	४४/५६	ओकडिङ्डता दलियं	८६/११८
अंतमुहूत्तिय मेत्ताइं	१८/२५	कथकरणो तवकाले	५६/८१
अंतरकरण गविहुठो	६५/८५	करणस्स संख्यागे	५२/६६
अंतरकरणस्तु विहि	१८/२७	करणाद्दाए अपुञ्जवं	१५/२४
अंतरकरणेण सम	६२/८२	करणाथ नौवसंतं	८५/११४
आएम समय क्याण	७६/१०५	किट्टिकरणद्वागं	८०/१०७
आइलेसु दोसुं	६/८		
आगालेण संगगं	६६/८६	खवगुवसामगपच्चां	८०/१२१
आवलिमेत्तं उदएण	२१/८६	खवगो उवसमगो वा	१७/१२६
इगदुग्गावलिसेसाड	२०/२८	गुणसेडिपएमगं	१०३/१४०
उविकरइ असंख्यगुणं	४५/६०	गुणसंकमेण एसों	२४/३२
उक्कोसेण बहुसागराणि	१२/१६	गुणसंकमेण समगं	२५/३३
उदयावलिए उपिं	३१/४९	मेष्हन्तो य मृयन्तो	८३/१११
उवरिमगे करणदुगे	३५/४५	गोयारयाण दोण्हं	८६/१३२

गाथीश	गा. सं./पृ. सं.	गाथीश	गा. सं./पृ. सं.
गंतुं संखेज्जंमं	८/१२	परिवार्डीए ७डिअं	६१/१२२
घाइय ठिईओ दलियं	१४/२२	पुणरवि तिच्छि करणाहं	५०/६७
चरिमुदयम्मि जहन्नो	७३/६६	फिहन्नित आबलीए	७२/६१
छाइवियः सेसाए	२१३/३५	बङ्गे बङ्गे सासु आबलीसु	६४/८२
जा उवकोसा पढमे	१०/१६	बहुखंडते मीसं	४३/५७
जा करणाहीए ठिई	१६/२४	बंधाकुत्तर बन्धं	४/५
जाणण गहणणुपालण	३०/३७	मूलुभर कम्माणं	६५/१२८
जावइया गुणसेझी	८७/११८	मोहस्स दोणिण पल्ला	५३/७०
जं समए उवसंतं	६८/८८	लाहोहीणं पञ्चार	५६/७७
ठिहखंडं उक्कोसंगि	५१/६८	लोभस्स उ पढमठिहं	७३/६८
ठिहवंथउदीरण	१०४/१४१	लोहस्स अणुबसंतं	८१/१०८
ठितिखंड सहस्राहं	४०/५४	बीसग असंखभाये	५०/७५
तहय चउत्ये तम्मव	४७/६३	बोसग तीसग मोहण	५४/७२
तत्तो बहुखंडते	४२/५७	बेडजेतमाण संजलण	८६/१२०
तावह कालेणं चिय	७०/८६	बेयग सम्महिदिठ	२६/३७
थीअपुमोदयकाला	६१/८१	सम्मतोणं समगं	२८/३५
दुचरिमसमये नियगोदयस्स	६४/१२८	सम्मुघायण विहिणा	३८/४४
देसुवसमणनिकायण	३६/५४	सम्म थोबो मीसे	२३/३०
देसुवरमणा तुल्ला	१०२/१३६	सव्व जहन्नग फहडग	७७/१०२
देसुवसमणा सव्वाण होइ	१/३	सव्वुबसमण जोग्यो	२/५
दंसणखवणसर्हिहो	३६/५२	माडयमाइचउहा	६८/१२१
नामगोयाण संखा	६७/८६	सेहिपडिओ तम्हा	६३/१२४
षडसमयमणन्तगुणरा	७/११	सेसदं तणुरागो	८२/१०६
पढम अहोपवत्तो	५/८	संकम लशीरणाणं	८८/१२०
पढमुवसमव सेसं	४६/६५	संखेज्जा मंखिज्जा	४१/५६
परिणाम पञ्चएण गमागमं	३२/४२	संजमधार्डिण तओ	६०/७८
परिणाम पञ्चएण चउविहं	३३/४३	संताणि बज्जमणग	७५/१००

सम्यकत्वोत्पाद प्ररूपणा का सारांश

करणकृत उपशमना की प्रथम भूमिका सम्यकत्व प्राप्त करना है। अनेक संक्षेप में उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं।

चारों गति में वर्तमान सर्वपर्याप्तियों से पर्याप्त संजों पंचेन्द्रिय जीव उपशम, उपदेश-अवधि और उपशमन क्रिया के योग्य उत्कृष्ट योग—इन तीन लक्ष्य युक्त जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करके उपशम सम्यकत्व प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु करण काल के पूर्व भी अन्तर्मुहर्ता काल पर्यन्त यह योग्यताएँ होती हैं—

१ पञ्चिदेश के निकट आये अभव्य को विशुद्धि की अपेक्षा भी उत्तरोत्तर भ्रतिसमय अनन्तगुण प्रबन्धमान विशुद्धि होती है।

२ आयु सिकाय थेष सात कमों की अन्तःकोद्वाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति सत्ता और अशुभ प्रकृतियों के सत्तागत चतुर्स्थानगत रस को द्विरूपानक एवं शुभ प्रकृतियों के सत्तागत द्विरूपानक रस को चतुर्स्थानक करना है।

३ मनि-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभिन्नज्ञान में से किसी भी एक साकारोपयोग में और जघन्य परिणाम से संज्ञोलेश्या, मध्यम परिणाम में पद्म लेश्या एवं उत्कृष्ट परिणाम से शुक्ल लेश्या में बद्वमान होता है।

४ स्वभूमिकानुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट योग में वद्यमान प्रकृतियों का स्वभूमिकानुसार क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रदेश वद्य कारता है।

५ यदि सम्यकत्व प्राप्त करने वाले मनुष्य अथवा निर्यच हो तो सैतालीस ध्रुववंधिनी प्रकृति एवं सातावदेनीय, हास्य, रत्ति, पुरुषवेद, उच्चगोत्र ये पांच लक्ष्य देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, प्रथम संस्थान, शुभविहायोगति, उच्छ्रवास, पराधात और प्रसदशक ये नामकरण की उन्नोम

इस तरह कुल परावतंमान चौबीस प्रकृति वांधता है लेकिन यदि देव और नारक हों तो श्रुवबंधिनी संतालीस, सातावेदनीय, हास्य, रति, पुरुषबेद, उच्चगोत्र, ये पांच और मनुष्याद्विक, पंचनिद्रियजाति, औदारिकद्विक, प्रथम संहनन एवं सस्थान, गुभविहायोगति, परवधात, उच्छ्रवास, और चसदेशका भावकर्म की ये बांस प्रकृति, इस प्रकार कुल पच्चांस प्रकृति वांधता है। परन्तु राष्ट्रकृत्व प्राप्त करने वाला सातबी पृथ्वी का नारक हो तो वह मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्याद्विक और उच्चगोत्र का बन्ध ही नहीं करने वाला होने से मनुष्याद्विक और उच्चगोत्र के बदले तिर्यचद्विक और नीच गोत्र सहित पच्चीस अथवा उद्योत का बन्ध करे तो छब्बीस प्रकृति वांधता है।

आयु का घोलमान परिणामों में बन्ध होता है, परन्तु यहाँ एक द्वाया प्रवर्धमान परिणाम होने से आयुकर्म की किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है।

३ मामान्य से एक अन्तर्मुहूर्त तक समान स्थिति-बन्ध होते रहने से वह एक स्थितिबन्ध कहलाता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद संक्लिष्ट या विशुद्ध परिणाम के अनुसार कमशः अधिक या हीन स्थितिबन्ध होता है परन्तु यहाँ कमशः प्रवर्धमान विशुद्ध परिणाम होने से पूर्व-पूर्व का स्थितिबन्ध पूण कर उस-उस स्थितिबन्ध की अपेक्षा पर्याप्त का असंख्यातर्क भाग न्यून-न्यून नया-नया स्थितिबन्ध करता है।

३ प्रत्येक समय बध्यमान गुभ प्रकृतियों का रस पूर्व-पूर्व के समय से असन्तुगुण अधिक-अधिक और अगुभ प्रकृतियों का अन्तर्मुहूर्त हीन-हीन वांधता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल रहने के बाद यथाधिवृत्त, अपुर्व और अनिवृत्त यह तीन करण करता है। इनमें से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त प्रभाग है।

यथाप्रवृत्त और अपुर्व इन दोनों करणों में एक मात्र प्रविष्ट जीवों के प्रत्येक समय विशुद्धि में तरलमता होती है, जिससे प्रत्येक समय त्रिकालवती अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रभाग प्रवर्धमान-हीयमान अध्यवसाय होते हैं और इन दोनों करणों के प्रभाव से भीहनीयकर्म का उसी प्रकार का विचित्र क्षयोपशम होता है कि जिससे उत्तर-उत्तर के सभय में अध्यवसाय किञ्चित् अधिक-अधिक होते हैं और संपूर्ण एक अथवा

दोनों करणों के कुल अध्यवसाय भी असच्चय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं, परन्तु एक-एक समयवर्ती असच्चय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों की अपेक्षा सम्पूर्ण करणगत अध्यवसायों की संख्या असच्चयगुण असच्चय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होती है। सुगम बोध के लिए इस बात को असत्कल्पना से स्पष्ट करते हैं—

यथाग्रवृत्तकरण—करण काल का अन्तमूहूर्न असच्चयात् समय का होने पर भी असत्कल्पना से पञ्चीस समय प्रमाण और प्रथम समय के असच्चयात् लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों की संख्या। एक सौ और उत्तर-उत्तर के समय में कुछ अशिक-अधिक यानि पांच-पांच अधिक माने तो यथाग्रवृत्तकरण के प्रथम समय में द्विकालवर्ती संबंजीवों की अपेक्षा एक सौ, हूमरे समय एक सौ पांच, तीसरे समय एक सौ दस अध्यवसाय हों, इस प्रकार उत्तर-उत्तर के समय में पांच-पांच अध्यवसाय अधिक होने से पञ्चीस समयात्मक अन्तमूहूर्त के चरम समय में अपारु पञ्चीसवें समय न अनेक जीवों की अपेक्षा कुल दो सौ बीस अध्यवसाय होंगे।

यहाँ तियंगमूर्खी और कार्बमूर्खी इस प्रकार दो तरह की विशुद्धि होती है। प्रथम समय के एक सौ अध्यवसाय हैं। उनमें पहला अध्यवसाय सबसे अलाविशुद्धि वाला और उसकी अपेक्षा लौबां अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाला होता है जिसमें प्रथमांकवर्ती अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा अन्तिम अध्यवसाय तक के अध्यवसायों में के कितने ही अध्यवसाय अनन्तभाग अधिक, कितने ही असंख्यात्माग अधिक, कितने ही संख्यात्माग अधिक, कितने ही संख्यात्मगुण अधिक और कितने ही अन्तिम अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाले होते हैं।

इसी प्रकार दूसरे समय के एक से एक सौ पांच तक के जो अध्यवसाय हैं, उनमें प्रथम अध्यवसाय दूसरे आदि अध्यवसायों से अल्प विशुद्धि वाला है और उसी पहले समय की विशुद्धि की अपेक्षा एक सौ पांचवें अध्यवसाय तक के अध्यवसायों में कितने ही अध्यवसाय अनन्तभाग अधिक, कितने ही असंख्यात्माग अधिक, कितने ही संख्यात्मगुण अधिक, कितने ही असंख्यात्मगुण और कितने ही अन्तिम अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाले होते हैं। इस प्रकार यथाग्रवृत्तकरण के चरम समय

तक प्रत्येक समय के अध्यवसायों में सुधम दृष्टि से असंख्यात् प्रकार की तरतमता होने पर भी स्थूल दृष्टि से छह-छह प्रकार की तरतमता होती है, यह तिर्यग्मुखी विशुद्धि कहलाती है।

पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों की विशुद्धि की अपेक्षा उत्तरोत्तर समयों की विशुद्धि भी सामान्य से अनन्तगुण होती है, जिसे ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि कहते हैं।

यथाप्रवृत्तकरण में पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों से उत्तर-उत्तर के समयों में समस्त अध्यवसाय नये नहीं होते हैं। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व समय के सभी अध्यवसाय उत्तर-उत्तर के समय में प्राप्त भी नहीं होते हैं। परन्तु पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों में से प्रारम्भ के अस्य विशुद्धि वाले अप्य-अल्प अध्यवसाय छोड़ता है और जिनमें छोड़ता है, उसमें कुछ अधिक संख्या प्रमाण नये-नये अध्यवसाय उत्तर-उत्तर के समय के होते हैं। जो डस प्रकार हैं—

प्रथम समय के जो एक सौ अध्यवसाय हैं, उनमें से एक से बीस तक के अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के जो इकाँहोंस से साँ तक के कुल अस्सी और पचास उनसे अधिक विशुद्धि वाले नवीन—इस तरह कुल एक सौ पाँच अध्यवसाय दूसरे समय में होते हैं। उनमें से प्रथम समय के इकाँहोंस से चालीस तक के बीस अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के साठ और पचास नये इस प्रकार पाँक सौ इस अध्यवसाय तीसरे समय में होते हैं। उनमें से प्रथम समय के इकातालीस से साठ तक के बीस अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के चालीस और पचहत्तर नये इस तरह कुल एक सौ पन्द्रह अध्यवसाय चौथे समय में होते हैं और उनमें से भी प्रथम समय के इकात्तर से अस्मी तक के बीस अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के इक्ष्यासी से सी तक के बीस अध्यवसाय और एक सौ नये, इस तरह कुल पाँक सौ बीस अध्यवसाय पाँचवें समय में होते हैं।

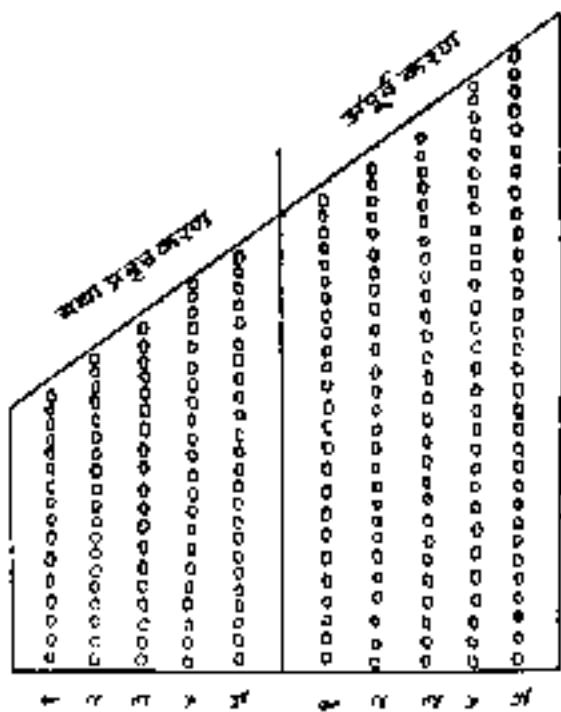
अर्थात् पचास समयात्मक यथाप्रवृत्तकरण के पाँच-पाँच समय प्रमाण पाँच भाग करते। तो प्रथम समय के अध्यवसाय पाँच समय स्वरूप यथा-प्रवृत्तकरण के प्रथम संख्यात्मक भाग के चरम समय रूप पाँचवें समय तक होते हैं। दूसरे समय के छठे समय तक, तीसरे समय के सातवें समय तक, चौथे के आठवें समय तक, पाँचवें के नौवें समय तक, छठे के दसवें समय तक

इस तरह यावत् एकीसवे समय के अध्यवसायों में के अनुक अध्यवसाय यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय रूप पच्चीसवे समय तक होते हैं। जिससे यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि से यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम पांच रात्रा स्वरूप संख्यात्वे भाग में के चरम समय रूप पांचवे समय तक दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवे समय के अध्यवसायरथान की जघन्य विशुद्धि अमशः एक-एक में अनन्तगुण अधिक होती है, वह पांचवे समय के अध्यवसाय की जघन्य विशुद्धि से प्रथम समय के अध्यवसाय की उल्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है।

उससे संख्यात भाग स्वरूप पांच समय से ऊपर के छठे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे आदि के दूसरे समय की उल्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है। उससे संख्यात भाग के ऊपर के दूसरे अर्धात् भातवे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे आदि के तीसरे समय की उल्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है, इस प्रकार ऊपर-ऊपर के एक-एक समय की जघन्य और प्रारम्भ के ऊपर-ऊपर के एक-एक समय की उल्कृष्ट विशुद्धि अनुक्रम से अनन्तगुण अधिक-अधिक होने से बीसवे समय की उल्कृष्ट विशुद्धि से यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय रूप पच्चीसवे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है। यहाँ पर समस्त समयों के अध्यवसाय-स्थानों की जघन्य विशुद्धि पूर्ण होती है परन्तु अन्तिम ऊपर के इक्कीस से पच्चीस तक के पांच समय रूप अन्तिम संख्यात भाग के समय प्रभाव अध्यवसायों की उल्कृष्ट विशुद्धि शेष रहती है, इसलिये पच्चीसवे समय की जघन्य विशुद्धि से चरम संख्यात्वे भाग के प्रथम समय की अर्धात् इक्कीसवे समय की उल्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे बाईस, लैंडैस, चौबीस और पच्चीसवे समय की उल्कृष्ट विशुद्धि अनुक्रम से एक-एक से अनन्तगुण होती है।

इस प्रकार नदीगोल-यात्राण के न्याय से तथा भव्यत्व भाव के परिपाक के बश भवा एवं अभव्य भी अनेक बार यथाप्रवृत्तकरण करके ग्रन्तिदेश तक आते हैं और अभव्य जीव मोक्ष की शुद्धा विना सांसारिक सुखों की इच्छा से द्रव्यचारित्र प्रहृण कर थूत सामायिक का लाभ प्राप्त कर नौदें ग्रेवेक तक उत्पन्न होते हैं, परन्तु सम्यक्त्व आदि शेष तीन सामायिक प्राप्त नहीं करते हैं, तथा उन अभव्य-जीवों का एवं अन्तर्मुहूर्त में समयक्त्व प्राप्त न करने

बाले भव्य जीवों के यथाप्रवृत्तकरण की अपेक्षा यह यथाप्रवृत्तकरण विलक्षण है, जिसमें अन्नमुहूर्त में सम्यकत्व प्राप्त करने वाले भव्य जीव यथाप्रवृत्तकरण के बाद नेत्रकाल ही अपूर्णकरण करते हैं। 'जलाना' एवं 'हड़ा' इन प्रकार है—



अपूर्वकरण—इस करण में यथाप्रवृत्तकरण के समान प्रत्येक समय असंह्यात लोकाकाश प्रदेश प्रगति और पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में कुछ अधिक-अधिक अध्यवसाय होते हैं। इसलिए यहाँ भी तिवंग-मुखी और ऊँठ-मुखी इस तरह दो प्रकार की विशुद्धि होती है। जिनका स्वरूप यथाप्रवृत्तकरण में कहे मये अनुलेप जानना चाहिए। परन्तु यथाप्रवृत्तकरण में पूर्व-पूर्व समय के अगुक-अमुक अध्यवसाय जैसे उत्तरोत्तर के समय में होते हैं, उसी प्रकार से इस करण में नहीं होते हैं, परन्तु पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तर समय में मभी अध्यवसाय नवीन ही होते हैं। जिससे अपूर्वकरण के प्रथग समय में जो एक सौ भी अध्यवसाय होते हैं उनसे नितान्त भिन्न और अनन्तगुण विशुद्धि बाले दूसरे समय में एक सौ पांच, उनसे नितान्त भिन्न अनन्तगुण विशुद्धि बाले तीसरे समय में एक सौ दस, और समय में एक सौ पन्द्रह, पांचवें समय में एक सौ कीस इस प्रकार थावत्

द्वितीय-बहुते इस करण के अन्तिम समय रूप पञ्चीसवें समय में दो सौ बीम अध्यवसाय होती हैं।

यहाँ भी प्रत्येक समय के अध्यवसायों में पथाप्रवृत्तकरण के समान मूलम हृष्टि से असंख्य प्रकार की और स्थूल हार्षट से छह प्रकार की विशुद्धि सम्बन्धी तत्त्वसत्ता होती है और उससे ही यह अध्यवसाय पदस्थान वृद्ध अथवा पदस्थान पतित कहलाते हैं।

इस करण में प्रत्येक समय अध्यवसाय नितान्त नदे होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय के जो एक सौ अध्यवसाय है, उनमें के द्वितीयादि अध्यवसायों की अपेक्षा प्रथम अध्यवसाय की विशुद्धि अन्त्यन्त अत्यंप है, फिर भी यथा-प्रकृतकरण के चरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि की अपेक्षा तो अनन्तगुण होती है और अपूर्वकरण के प्रथम समय के प्रथम अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा सबोट्टिकृष्ट अन्तिम एक सौवें अध्यवसाय की विशुद्धि अनन्तगुण है और उससे प्रथम समय के एक सौवें अध्यवसाय की विशुद्धि से दूसरे समय की जधन्य, उससे उसी दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे तीसरे समय की जधन्य और उससे भी उसी तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है, इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय की जधन्य और उसके बाद उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होने से द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से पञ्चीसवें समय रूप चरम समय की जधन्य और उससे उस पञ्चीसवें समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है तथा इस करण में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर के समयों में पूर्व में किसी समय न हुए हों ऐसे अनन्तगुण विशुद्धि वाले प्रवर्धमान परिणाम होते हैं, जिससे इस अपूर्वकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणधेणि और अपूर्व स्थितिवन्ध ये चार पदार्थ पूर्व में किसी समय नहीं किये हों ऐसे नदोन होते हैं, जिससे इसका नाम अपूर्वकरण पथार्थ है।

इन स्थितिघात आदि का स्वरूप मुगम है। स्थितिघात में प्रति समय स्थिति का चात होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितनी कर्म की स्थिति सत्ता होती है उससे उसी करण के चरम समय में संख्यात्मगुण हीन अर्थात् संख्यात्में भाग प्रसाण कर्म की स्थिति सत्ता रहती है।

इसी प्रकार से रसघात के लिए समझना चाहिए किन्तु इतना विशेष

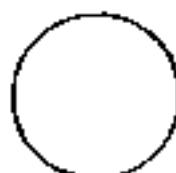
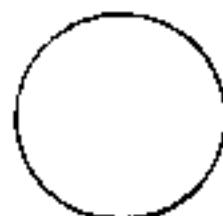
है कि अपूर्वकरण में हजारों स्थितिघात होते हैं और इन एक-एक स्थितिघात में हजारों रसघात होते हैं।

युगश्रेणि में प्रथम समय से अपवर्ननाकरण द्वारा स्थितिघात कर जिन-जिन स्थितियों का नाश करता है, उन स्थितिस्थानों में रहे हुए दलिक शीघ्र क्षय करने के लिए प्रत्येक समय में असंख्यात् गुणाकार रूप से ऊपर ते नीचे उतारे जाते हैं और जिस-जिस समय जितने-जितने दलिक उतारे जाते हैं, उनन्हन दलिकों को उसी समय रसोदयवाली प्रकृतियों में उदय समय से लेकर और अनुदिल मत्तागत प्रकृतियों में उदयावलिका से ऊपर के प्रथम समय से लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक काल तक के प्रत्येक समय में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर अपर-ऊपर के समय में असंख्यात् गुणाकार रूप से स्थापित किया जाता है, अर्थात् वंधादि के समय में हृष्ट निषेक रचना के दलिकों के साथ भोगने योग्य किये जाते हैं।

अपूर्व स्थितिबंध में जो नवीन स्थितिबंध होता है वह पूर्व स्थितिबंध की अपेक्षा पहलीपम के संस्थानवें माग न्यून होता है। इस प्रकार से अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त होता है।

स्थितिघात और स्थितिबंध एक साथ प्रारम्भ होते हैं और साथ ही पूर्ण होते हैं। अर्थात् एक स्थितिघात और एक स्थितिबंध का काल समान है। इसलिये अपूर्वकरण में जितने स्थितिघात होते हैं, उतने ही अपूर्व स्थितिबंध भी होते हैं।

अनिवृत्तिकरण—इस करण में एक साथ प्रवेश करने वाले जीवों के किसी भी एक समय में अध्यवसायों में फंरकार नहीं होता है, जिससे विकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा भी विवक्षित एक-एक समय में समान अध्यवसाय होने से एक-एक अध्यवसाय हो होता है। अतएव इस करण में जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसायस्थान होते हैं। इस कारण इन अध्यवसायों की आकृति भोतियों की भाला के समान होती है।



इस करण में तिर्यग्मुखी विशुद्धि नहीं होती है परन्तु पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय के अध्यवसाय की विशुद्धि अनन्तगुण होती है और इस करण में भी अपूर्वकरणवत् स्थितिधात्र आदि जार पदार्थ प्रवर्तनभाग रहते हैं।

इस अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल के असत् कल्पना से सौ समय माने और उनके दस-दस समय के दस भाग की कल्पना करके बहुत से संख्यात भाग अर्थात् नववं समय प्रमाण नी भाग जितना बान आये और दस समय प्रमाण एक संख्यातवां भाग जितना काल शेष रहे तब सत्ता में विद्यमान जो मिथ्यात्व की स्थिति है उसको उदय-समय से अर्थात् इक्यानववें समय से लेकर अनिवृत्तिकरण के शेष रहे संख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् इक्यानवे से सौ तक के दस समय प्रमाण नीचे रख उसके (सौ समय के) ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त काल में भोग्य योग्य मिथ्यात्व के दलिकों को वहाँ से दूर करने की क्रिया जूँक करता है जिसे अन्तरकरण की किया कहते हैं।

इस क्रिया हारा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान में से मिथ्यात्व के शलिक हटाकर अर्थात् दूर कर नीचे और ऊपर इस तरह दोनों ओर ढालकर वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान विशेष रूप से मिथ्यात्व के शलिक विना का करता है। उन अन्तरकरण के शलिकों के साथ गुणशेषि का भी ऊपर का संख्यातवां भाग छिन्न-भिन्न होकर दूर हो जाता है। जिस समय से अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ करता है उस समय से मिथ्यात्व की मुण्डशेषि अनिवृत्तिकरण के चरम तक ही होती है, परन्तु उसके ऊपर के समयों में नहीं होती है और अन्तरकरण क्रिया समाप्त होने के बाद के समय से द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व के शलिकों को असंख्यात गुणाकार रूप से उपलब्धित करते अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण उपशान्त करता है।

अन्तरकरण क्रिया काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होने पर भी वह काल अनिवृत्तिकरण के शेष रहे संख्यातवें भाग की अपेक्षा भी अधिक्षय होता है। जिससे अन्तरकरण की क्रिया पूर्ण होने के बाद भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अनिवृत्तिकरण का काल बाकी रहता है। जिसने काल में एक स्थितिधात्र करता है उतने ही काल में अन्तरकरण की क्रिया भी करता है। जिससे अन्तरकरण क्रिया का अन्तर्मुहूर्त आवलिका के एक संख्यातवें भाग जितना लोटा (हीन) होता है। अन्तरकरण क्रिया पूर्ण होने के बाद अन्तरकरण क्रिया

गवा होने से सत्तागत मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। उनमें एक अन्तर्मुद्दो प्रमाण अन्तरकरण की नीचे की स्थिति को छोटी अथवा प्रथम स्थिति और दूसरी सत्तागत सम्पूर्ण स्थिति प्रमाण अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति को बड़ी अथवा दूसरी स्थिति कहते हैं।

अनिवृत्तिकरण की अथवा मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण रहे तब मिथ्यात्व की गुणधर्मिण होना रुक जाता है और एक आवलिका शेष रहे तब स्थितिधात और सत्तान् होना भी रुक जाता है। अर्थात् उस समय से मिथ्यात्व का स्थितिवात और सत्तान् नहीं होता है एवं मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण शेष रहे तब अन्तरकरण के ऊपर रहे उद्दीरण के दलिकों को उद्दीरण व्योग हारा उदयावलिका में प्रक्षिप्त कर उदयावलिका में वर्तमान दलिकों के साथ भोगने योग्य नहीं करता जिससे आगल का विच्छेद होता है और प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष रहे तब उद्दीरण का भी विच्छेद होता है।

जब-जब जिन-जिन प्रकृतियों का अन्तरकरण होता है तब अन्तरकरण होने के पश्चात् उद्दीरण प्रयोग व्याख्या अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में से दलिकों को उदयावलिका में प्रक्षिप्त कर उदयप्राप्त दलिकों के साथ भोगने योग्य करता है। इस उद्दीरण का ही पूर्व पुरुषों ने आगले ऐसा विशेष नामकरण किया है।

अनिवृत्तिकरण की समाप्ति के साथ ही अन्तरकरण के नीचे वी मिथ्यात्व की छोटी स्थिति भी भोगी जाकर सत्ता में से पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती है जिससे अनिवृत्तिकरण की समाप्ति के बाद के प्रथम समय में ही आत्मा अन्तरकरण में प्रवेश करती है और उस अन्तरकरण में मिथ्यात्व के दलिक न होने से वंजर भूमि को प्राप्त कर जैसे दावानल भी दृश्य जाता है। उसी प्रकार अन्तरकरण रूप वंजर भूमि को प्राप्त कर अनादि-कालीन मिथ्यात्व रूप दावानल भी दृश्य जाता है। जिससे अन्तरकरण में ही आत्मा पूर्व में कियी भी समर्पणपत्र नहीं भेजे गये शोक रूपी वृक्ष के बीज समान अपूर्व आत्मकृत स्वरूप उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति करती है और उसी अन्तरकरण में उपशम सम्यक्त्व के साथ कोई आत्मा देशविरति अथवा संविरति भी प्राप्त करती है।

अनिवृत्तिकरण के चरम समयवर्ती यानि मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति के चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि अथवा उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रथम समय में अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में विद्यमान सत्तागत मिथ्यात्व के दलिकों को रस के भेद से तीन प्रकार के करता है। किन्तु ही दलिकों को एकस्थानिक और जघन्य द्विस्थानिक रस वाले वाले कर युद्ध पुंजरूप बनाता है जो सम्यक्त्वमोहनीय और देशधाति कहलाता है। किन्तु ही दलिकों को द्विस्थानिक रस वाले बनाकर अर्ध युद्ध पुंज रूप करता है, जो मिथ्यमोहनीय और सर्वधाति कहलाते हैं और उनके सिवाय शेष दलिक उत्कृष्ट द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुर्स्थानक रस वाले होते हैं, जो अगुद्ध पुंज रूप मिथ्यात्वमोहनीय और सर्वधाति हैं।

अन्तरकरण के प्रथम समय से अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले से संख्यात्वे भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त तक प्रत्येक समय मिथ्यात्व के दलिकों को गुणसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय में अनुक्रम से उन संख्यात गुणाकार रूप से संक्रमित करता है। उसमें प्रथम समय सम्यक्त्वमोहनीय में अल्प और मिथ्यमोहनीय में उससे असंख्यातगुण संक्रमित करता है। प्रथम समय में मिथ्यमोहनीय में जितने संक्रमित करता है, उससे दूसरे समय में सम्यक्त्वमोहनीय में असंख्यातगुण और उससे उसी दूसरे समय में मिथ्यमोहनीय में असंख्यातगुण संक्रमित करता है। इस प्रकार पुर्व-पूर्व के समय में मिथ्यमोहनीय में जितने संक्रमित करता है, उससे उत्तर-उत्तर के समय में सम्यक्त्वमोहनीय में और मिथ्यमोहनीय में अनुक्रम से एक-एक से असंख्यातगुण संक्रमित करता है। मिथ्यात्व की तरह मिथ को भी असंख्यात गृणकार रूप से सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित करता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक गुणसंक्रम होता है। उसके बाद अन्तरकरण के शेष रहे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष काल में मिथ्यात्व और मिथ मोहनीय का विभवात गंक्रम होता है। जब तक इन दो प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, तब तक समय-समय अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम होने से मिथ्यात्व रहित शेष सत्ता में विद्यमान कर्म प्रकृतियों का स्थितिधात, रसधात और गुणशेष होती है और गुणसंक्रम के साथ स्थितिधातादि भी विच्छिन्न होते हैं।

इस अन्तरकरण का कुछ अधिक व्यावलिका प्रमाण काल शेष रहे तब

अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में से दर्शनमोहनीयशिक के दलिक उतार कर अन्तरकरण के अन्दर अन्तिम एक आवलिका जितने काल में प्रथम समय में प्रभूत और उसके बाद के उनर-उत्तर समयों में विशेष हीन-हीन दलिक स्थापित करता है और अध्यवसायानुसार तीन में से किसी भी पुंज का उदय करता है जिससे यहि मन्गलत्वमोहनीय का उदय हो तो आत्मा क्षायोपशमिक सम्यगदृष्टि, मिश्रमोहनीय का उदय हो तो मिथ्यादृष्टि और मिथ्यात्ममोहनीय का उदय हो तो मिथ्यादृष्टि होती है। परन्तु अन्तरकरण का जबत्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण काल पाप रहे तब किसी आत्मा को अनन्तानुर्बंधि क्षमाय का उदय हो तो वह आत्मा सासादन सम्यवन्त्र प्राप्त कर अन्तरकरण जितना काल रहे, उतने काल तक सासादन भाव में रहे बाद में अवश्य मिथ्यात्म गुणस्थान में जाती है।

अन्तरकरण में जिस आत्मा को अनन्तानुर्बंधि क्षमाय का उदय होता है, वह आत्मा अन्तरकरण का कुछ अधिक आवलिका काल बाकी रहे तब अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में से दलिक अन्तरकरण में जाकर आवलिका प्रमाण काल में क्रमबद्ध स्थापित महीं करती है। वर्णिका अन्तरकरण के अन्दर किसी पुंज का उदय महीं होता है और अन्तरकरण पुणे होने के बाद तीनों पुंज त्रियार होने से उनमें से मिथ्यात्म का ही उदय होता है। यह अन्तरकरण का काल मिथ्यात्म की प्रथम स्थिति के अन्तर्मुहर्ने प्रमाण काल से बहुत अधिक होता है। □

अनन्तानुबंध की विसंयोजना एवं उपशमना सम्बन्धी विधि

पञ्चसंग्रहकार एवं कर्मप्रकृतिकार आदि कतिपय आचार्यों का मतव्य है कि उपशम श्रेणि करने वाले जीवों को पहले अनन्तानुबंध की विसंयोजना होती है, उपशमना नहीं होती। परन्तु कुछ आचार्यों का मत है—अनन्ता-नुबंध की उपशमना करके भी उपशम श्रेणि हो सकती है। इस प्रकार से अनन्तानुबंध कागाय के विषय में दो दृष्टिकोण हैं। जिनका व्याकरण में स्पष्टीकरण करते हैं।

अनन्तानुबंध की विसंयोजना

चारों गति के सर्वपर्याप्तियों से पर्याप्ति संज्ञी पञ्चनिद्रिय खयोपशम सम्बन्धी यथासम्भव चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव उपशम सम्भवत्व की प्राप्ति में बताये गये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करने हैं। परन्तु यहाँ अनन्तानुबंध का बंधन होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय से अनन्तानुबंधिकषायचतुष्का का उद्यवलनानुविद्ध गुणसंक्रम प्रारम्भ होता है। जिससे बृह्यमान शेष मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में प्रतिसमय असंबोधित गुणाकार रूप में अनन्तानुबंध के दलिकों का संक्रम होता है तथा अनन्ता-नुबंध का उपशम नहीं होने से उसका अन्तरकरण नहीं होता है। एवं अन्तरकरण के अभाव में अन्तरकरण की प्रथम और द्वितीय इस तरह दो विधियों भी नहीं होती हैं परन्तु अनिवृत्तिकरण के काल का एक मंड्यात्मक भाग शेष रहे तब जीचे एक उद्यावलिका को छोड़कर उसके सिवाय सम्पूर्ण अनन्तानुबंध का शय हो जाता है और शेष रही उद्यावलिका को भी स्तिवृक संक्रम द्वारा वेद्यमान मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में संक्रमित कर अनन्तानुबंध की सत्ता रहित होता है।

तदन्तर अन्तमूहूर्त के बाद अनिवृत्तिकरण के अन्ते में शेष कर्मों का भी स्थितिघात, रसधात एवं गुणश्रेणि होना बन्द हो जाता है जिससे आत्मा स्वभावस्थ होती है।

यह अनन्तानुबंधिकषायचन्तुष्ट की चिसयोजना का रूपक है। अब उपशमना विधि का निर्देश करते हैं।

अनन्तानुबंधि की उपशमना

क्षयोपशम सम्बन्धी दौरे से सातवें तक चार में किसी भी गुणस्थान में बतंभान मनुष्य उपशमसम्बन्ध की प्राप्ति के प्रसंग में वताये गये अनुसार करण काल के पूर्व अन्तमूहूर्त तक योग्यताये प्राप्त करने के बाद यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है, परन्तु यहा अनन्तानुबंधि का बंधन होने से अपुर्वकरण के प्रथम समय से गुणसंक्रम भी होता है तथा अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग जाये और एक भाग शेष रहे तब अनन्तानुबंधि का उदय न होने से एक उदयावलिका प्रमाण स्थिति शेष रखकर उसके ऊपर एक स्थितिबंध के काल प्रमाण अन्तमूहूर्तकाल में अन्तमूहूर्त प्रमाण स्थान में से अनन्तानुबंधि के दलिक दूर करने की किया करता है। अर्थात् अन्तमूहूर्त में भीगने योग्य अनन्तानुबंधि के दलिकों को वहाँ से लेकर विद्यमान स्वजातीय प्रकृतियों में संक्रमित करता है और उत्तन स्थान दलिक रहित करता है तथा उदयावलिका प्रमाण प्रथम स्थिति को विद्यमान प्रकृतियों में स्थिरक संक्रम हारा संक्रमित कर सक्ता में से क्षय करता है।

जिस समय अन्तरकरण की क्रिया पूर्ण होती है, उसके बाद के समय से द्वितीय स्थिति में विद्यमान सत्तागत अनन्तानुबंधि के दलिकों को प्रत्येक समय असंख्यातगुण उपशमित करते अन्तमूहूर्तकाल में सम्पूर्ण उपशांत करता है जिससे अन्तमूहूर्त प्रमाण उपशांतता के काल में संक्रमण, उद्बत्तेना, अपश्वर्तना, उद्वीरणा, निधत्ति और निकाचना इन स्थान में से कोई भी करण नहीं लगता है एवं प्रदेशोदय या रसोदय भी नहीं होता है। □

दर्शनत्रिक की उपशमना विधि

वैभानिक देव की आयु बांधने के बाद यदि ल्लायिक सम्बन्धत्व प्राप्त करें तो उपशम श्रेणी कर सकता है और जिसने वैभानिक देव की आयु का बंध कर लिया है अथवा किसी सी गतिश्रायोग आयु को बांधे विना क्षयोपशम सम्बन्धत्वी उपशम श्रेणी कर सकता है परन्तु अन्य जीव नहीं कर सकते हैं और यदि ल्लायिक सम्बन्धत्वी उपशम श्रेणी करे तो चारित्र-मोहनीय एवं उत्तम करने से पूर्व गोष्ठे से रातड़वे इक चार हैं किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले अनन्तानुबंधि की विसंयोजना अथवा मतान्तर से उपशमना करके भी छठे अथवा सातवें गुणस्थान में दर्शनत्रिक की उपशमना करते हैं।

दर्शनत्रिक की उपशमना करने पर भी यथाप्रवृत्त बादि तीन करण करते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का सम्बन्धमोहनीय में गुणमंक्रम भी प्रवर्तित होता है और अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग जायें और एक भाग शेष रहे तब तीनों दर्शनमोहनीय का अन्तरकरण करते हैं परन्तु अनुदित मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय की प्रथम स्थिति आवलिका प्रमाण और उदयप्राप्त सम्बन्धमोहनीय की प्रथम स्थिति शेष रहे अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग जितने अन्तमुद्दर्श प्रमाण करते हैं।

मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय की आवलिका प्रमाण प्रथम स्थिति स्तिवृक्ति रूपक्रम से सम्बन्धमोहनीय में संक्रमित कर और सम्बन्धमोहनीय की प्रथम स्थिति रसोदय से अनुभव कर सत्ता में से नष्ट करते हैं। तीनों प्रकृतियों के अन्तरकरण में रहे हुए दलिकों को बहां से दूर कर सम्बन्ध की प्रथम स्थिति में प्रक्षिप्त कर भोग कर अद्य करते हैं एवं तीनों के द्वितीय (अन्तरकरण की ऊपर की) स्थिति में वर्तमान दलिकों को असंख्यात

गुणाकार रूप से उपशमित करते हैं और अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिष्यात्व और मिश्र मोहनीय का जो गुणसंक्रम प्रारम्भ हुआ था वह अन्तरकरण में प्रवेश करने के बाद भी अन्तमुहूर्त तक चालू रहता है। तत्प्रचात् अन्तरकरण में ही इन दोनों प्रकृतियों का विष्यात् संक्रम आरम्भ होता है और शेष सर्व स्वरूप पहले की परह ही समझना चाहिये।

इस प्रकार दर्शनत्रिक की उपशमना करके उपशम सम्बद्धत्वी अथवा कायिक सम्यक्त्वी चारित्रमोहनीय को उपशमित करने का प्रयत्न करते हैं।



दर्शनत्रिक क्षणा की विधि

उपशम सम्यक्लव्यी जैसे दर्शनभोग्नीयत्रिक की उपशमना करके उपशम श्रेणि करता है, उसी प्रकार दर्शनभोग्नत्रिक का क्षय करके शायिक सम्यग्दृष्टि भी उपशम श्रेणि करता है। अतएव यहाँ दर्शनभोग्नत्रिक की अवधारणा वा विधि का संक्षेप में दिव्यदर्शन कराते हैं।

यदि इस काल और इस क्षेत्र की अपेक्षा आदिनाय भगवान् के केवल-ज्ञानोत्पत्ति के समय से जम्बू स्वामी के केवलज्ञानोत्पत्ति के समय तक और सामान्य से सर्व क्षेत्रों की अपेक्षा विचार करें तो जिस काल में केवलज्ञान उत्पन्न हो सके उस काल में प्रथम संहननी, कम से कम आठ वर्ष की आयुवाला चाहे से सातवें तक किसी भी गुणस्थानवर्ती ज्ञायेपश्चात्मिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करके दर्शनत्रिक का क्षय कर सकता है।

यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों का स्वरूप जैसा पूर्व में बताया गया है, तदनुरूप यहाँ भी समझना चाहिये परन्तु अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में जो विशेषता है, उसका यहाँ संकेत करने हैं।

प्रथम गुणस्थान में विशुद्धि अल्प होने से जितने काल और विद्वन् प्रमाण में स्थितिघातादि होते थे उसकी अपेक्षा यहाँ अनन्तगुण विशुद्धि हानि से छोटे अन्तर्मुहूर्त में और नृहत् प्रमाण में स्थितिघातादि करता है, एवं अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिथ्यात्व और मिथ्र मोहनाय के उद्वलना एवं गुण यह दो संकेत होते हैं। परन्तु दर्शनभोग्नीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संकरण नहीं होते से सम्यग्दृष्टव्यभोग्नीय का केवल उद्वलनामक होता है और स्थितिघात से द्वितीय स्थिति में से उतारे गए दलिकों का सम्यक्त्वभोग्नीय में ही उदयावलिका के प्रथम समय से गुणश्रेणि दर्शन भाग तक असंन्यात गुणाकार और पश्चात् विशेष हीन-हीन स्थापित करता है।

इस प्रकार अपूर्वकरण में स्थितिधात आदि पदार्थ प्रवर्तित होते हैं जिससे अपूर्वकरण के प्रथम समय में आयु के बिना गेष कर्मों की जितनी स्थितिसत्ता और जितना नवीन स्थितिवंध होता है, उसकी अपेक्षा इस करण के चरण समय में संख्यात्मण हीन अर्थात् संख्यात्मभाग प्रमाण स्थितिसत्ता और नवीन स्थितिवंध होता है।

इसी प्रकार अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिधात आदि पदार्थ प्रवर्तित होते हैं। परन्तु इस करण से दर्शनत्रिक का सम्पूर्ण क्षय करना प्रारम्भ होने से इन तीनों प्रकृतियों के स्थितिधात आदि अत्यधिक वृहत् प्रमाण में होते हैं, एवं अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से दर्शनत्रिक में देशोपशमना, निहत्ति और निकाचना इन तीन में से कोई भी करण नहीं लगते हैं, अर्थात् दर्शनत्रिक के सनागत दलिकों में इस करण के प्रथम समय से देशोपशमना, निहत्ति तथा निकाचना नहीं होती है।

इस करण में हजारों स्थितिधात व्यक्तित होने के बाद असंखी पञ्चन्द्रिय की स्थितिसत्ता जितनी दर्शनत्रिक की सत्ता रहती है। तत्पश्चात् पुनः पुनः हजारों स्थितिधात होने के बाद क्रमशः चतुरन्द्रिय जीवों जितनी, शीन्द्रिय जीवों के बराबर, द्वीन्द्रिय जीवों के बराबर और उसके बाद पुनः हजारों मिथ्यात्मान होने के अनन्तर पल्पोषम के संख्यात्मवें भाग प्रमाण दर्शनत्रिक की स्थितिसत्ता रहती है।

तत्पश्चात् दर्शनत्रिक की जितनी स्थितिसत्ता है उसके संख्यात्म भाग करके एक संख्यात्मवें भाग गेष रख वाकी के संख्यात्म भागों का नाश करता है। पुनः शेष रहे संख्यात्मवें भाग के संख्यात्म भाग कर एक संख्यात्मवें भाग रख गेष समस्त भागों का नाश करता है। इस प्रकार वाकी रहे हुए संख्यात्मवें भाग के हजारों बार संख्यात्-संख्यात् भाग करके और एक-एक संख्यात्मवें भाग रख गेष सभी संख्यात् भागों का नाश करता है।

इस तरह से हजारों स्थितिधात जाने के बाद मिथ्यात्ममोहनीय की जो निहत्तिसत्ता है उसके असंख्यात् भाग करके उनमें से एक असंख्यात्मवें भाग रख गेष सभी असंख्यात् भागों का नाश करता है। पुनः शेष रहे एक असंख्यात्मवें भाग के असंख्यात् भाग कर एक असंख्यात्मवें भाग वाकी रख गेष समस्त असंख्यात् भागों का नाश करता है। इस प्रकार शेष रहे मिथ्यात्म के एक-एक असंख्यात्मवें भाग के असंख्यात्-असंख्यात् भाग कर और उनमें से एक-एक

असंख्यातवां भाग काकी रख जोष सभी अमंड्यान भागों का नाश करता है। इस तरह बहुत से स्थितिवान होने ने मिथ्यात्व की स्थिति मात्र एक उदयावलिका प्रमाण रहती है और जोष सभी वा नाश हो जाता है।

जिस समय से सन्नागन मिथ्यात्व की स्थिति के अमंड्यान भाग कर एक असंख्यातवां भाग रख असंख्यात-अमंड्यान भागों का नाश करने तो शम्भान की उत्तर समय से मिथ और सम्यकत्व मोहनीय की नन्नागन मिथ्यात्व के मध्यान भाग कर एवं-एक संख्यातवां भाग रख जोष सभी मध्यान भागों का नाश करता है। इस प्रकार मिथ तथा मध्यकत्व मोहनीय के भी बहुत से स्थिति-धारा व्यनीत होते हैं और जब मिथ्यात्व को दिलनि उदयावलिका प्रमाण रहती है तब मिथ और सम्यकत्व मोहनीय की पर्योग्य के अमंड्यातवे भाग प्रमाण स्थितियता रहती है।

द्विचरम स्थिति खंड तक स्थितिधारा से उतारे हुए मिथ्यात्व के दिलिकों को नीचे स्व में और मिथ एवं इसी प्रकार सम्यकत्व में तथा मिथ मोहनीय के स्थितिधारा से उतारे गये दिलिकों को स्व में और सम्यकत्व में रखता है एवं चरम स्थितिधारा से उतारे हुए मिथ्यात्व के दिलिकों को मिथ नवा सम्यकत्व मोहनीय में और मिश्रमोहनीय के दिलिकों को सम्यकत्वमोहनीय में लालना है तथा सम्यकत्वमोहनीय के दिलिकों को धपने उदय-समय में गुण-शैलि के क्रम से स्थापित करता है।

मिथ्यात्व की उदयावलिका को स्तिवुक्तक्रम द्वारा गम्यकत्वमोहनीय में सक्रिय करके और भोग कर मिथ्यात्व की स्थिति वा संतुर्ण नाश करता है।

जिस समय मिथ्यात्वमोहनीय की मात्र उदयावलिका जिन्हीं स्थिति रहती है, उस समय से सन्नागन मिथ और सम्यकत्व मोहनीय की मिथ्यात्व के असंख्यान भाग कर एक असंख्यातवां भाग रख जोष सभी अमंड्यान भागों का नाश करता है और वाकी रहे एक अमंड्यान भाग के बार-बार अमंड्यान भाग कर तथा एक-एक अमंड्यातवां भाग रख जोष अमंड्यान भागों का नाश कर-कर के बहुत से स्थितिधारा होने के बाद मिथमोहनीय की स्थितियता उदयावलिका प्रमाण रखता है और इस उदयावलिका को भी स्तिवुक्तसप्तमण से सम्यकत्वमोहनीय में सक्रिय करके सन्ता में से दूर करता है।

जिस समय मिश्र मोहनीय की उदयावलिका आकी रहती है, उस समय सम्यक्त्वमोहनीय की विथि सत्ता आठ वर्ष प्रमाण रहती है। उस समय से उस आन्मा के विघ्नरूप सर्वधाती मिथ्यात्म और मिश्र का सर्वथा क्षय हुआ है और सम्यक्त्वमोहनीय का भी अन्तर्मुहूर्त में अवाय क्षय होने आआ होने से गिरचय नय के मत अगुसार वह आन्मा दर्शनमोह की खपक कहनारी है। जिस समय सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है, उस समय से सम्यक्त्वमोहनीय के द्विचरम लिंगत्वांड तक अन्तर्मुहूर्त में अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले अनेक स्थितिखण्ड उत्कीर्ण करके नाश करता है।

ये प्रत्येक स्थितिखण्ड अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले होने पर भी अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात प्रकार होने से पहले स्थितिखण्ड की अपेक्षा दूसरा स्थितिखण्ड असंख्यातगुण बड़ा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। इस प्रकार द्विचरम स्थितिखण्ड तक समस्त स्थितिखण्ड पूर्व-पूर्व के स्थितिखण्ड की अपेक्षा असंख्यात बड़े-बड़े अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले होते हैं।

प्रत्येक स्थितिखण्ड के दलिकों को नीचे उतार कर उदयक्षम्य से गुण-श्रेणि के चरम समय तक पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तरवर्ती समयों में असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है और गुणश्रेणि के चरम समय ऊपर के प्रथम समय से जिस स्थितिखण्डों का घात करता है, उनके नीचे के चरम स्थितिस्थान तक विशेष हीन-हीन स्थापित करता है, परन्तु जिस लिंगतिखण्ड का घात करता है, उन स्थितिस्थानों में स्थापित नहीं करता है।

द्विचरम स्थितिखण्ड से चरम लिंगतिखण्ड संख्यातगुण बड़ा होता है और चरम स्थितिखण्ड के साथ गुणश्रेणि का भी शीर्ष स्थानीय अन्तिम रुद्धयत्वांतर भाग नष्ट हो जाता है। मुणश्रेणि के नष्ट होने पर अन्तिम संख्यातव्यों भाग की अपेक्षा भी चरम स्थितिखण्ड नंख्यातगुण बड़ा है। चरम स्थितिखण्ड के साथ जिस गुणश्रेणि का भाग नष्ट नहीं होता है, उस भाग के चरम समय तक उदयक्षम्य से निकट असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है। इस तरह से चरम स्थितिखण्ड का भी नाश करता है और इस चरम स्थितिखण्ड का नाश ही तब अपक कुतश्चरण कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण में चरम स्थितिखण्ड का नाश होने के बाद सम्यक्त्व-

मोहनीय का जो शोड़ा सा भाग अभी सत्ता में है उतना भग गत्ता में हो और बद्धायु हो तो अनिवृत्तिसरण गुण होने में लाय आयु दूर्य हो जाए तो काल वारके चार में से किसी भी गति में जाकर मना गे ऐप रहे सम्यक्त्व भोहनीय का शेष भाग उदय-उदीरण से भोग कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है एवं पूर्व में कुतकरण तक शुक्ल शेष्य वाला वा परन्तु उसके बाद परिणामों के अनुसार किसी भी निष्पाकाला होता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रारम्भक मनुष्य होता है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति की गुणता चारों गति में हो सकती है।

अबद्धायुष्क अधवा वैगानिक देव का, प्रथम तीन नरक का एवं दुष्टिक मनुष्य तिर्यक का आयु वांधा हुआ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है परन्तु अवनाति आदि देवनिकाय तथा का, जोधे आदि नरक का एवं भृष्यात वर्षे के मनुष्य-तिर्यक ता आयु वांधे हुए जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

यदि अबद्धायुष्क क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो दर्शनविक का दृष्ट करने के बाद अस्तमूहूर्त में ही द्वयक श्रेणि करके केवलज्ञान प्राप्त करता है, जिससे वह चरम शरीरी होता है और देवद्यु वांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला दर्शनविक का दृष्ट करने के बाद उपशम श्रेणि कर सकता है परन्तु शेष आयुओं को वर्धने के बाद आदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह जीव उपशम श्रेणि भी नहीं कर सकता है।

देव अथवा नरक आयु वांधने के पश्चात यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो जिस भव में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है वह मनुष्य भव, दूसरा देव अथवा नरक भव करके तीसरे भव में मनुष्य होकर मोक्ष में जाता है। परन्तु यदि तीसरे भव में मनुष्य होने पर भी वहाँ काल या अंत्र के प्रभाव से गोक्ष प्राप्ति की सामर्थी न मिल सके तो वहाँ देवायु वांध कर जीवा भव देव का कर मनुष्य में आकर कोई जीव पात्रता भव में भी गोक्ष में जाता है और यदि युगलिक मनुष्य या तिर्यक की आयु वांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह पहला मनुष्य का भव, दूसरा युगलिक मनुष्य या तिर्यक का भव, युगलिक काल करके अवश्य देवत्वीक में जाते हैं अतः तीसरा देव का भव कर जीवे भव में मनुष्य होकर मोक्ष में जाता है।



चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व

संक्लिष्ट परिणामों का त्याग कर अनन्तगुण विशुद्धि में बर्तमान जीवे से सातवें तक चार गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान में बर्तमान क्षार्योपशमिक सम्यग्हटि चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। चारित्रमोहनीय का उपशम नीचे-दसवें गुणस्थान में ही होता है, जिससे चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करनी आत्मा देशविरति प्राप्त करके अथवा विना करे किन्तु सर्वविरति प्राप्त करने के अनन्तर नीचे और दसवें गुणस्थान में जाकर चारित्रमोहनीय का उपशम करती है।

पांच अणुधनों में से कोई एक अणुद्रव धर्म करे वह जष्ठ्य, दो, भीन मावत् पांचों अणुद्रव धर्म करे वह सध्यम और मवासानुसंति को छोड़कर शेष पांप व्यापार का त्याग करे वह उत्कृष्ट देशविरत कहलाता है और इस उत्तरासानुसंति का भी त्याग करे दिगं जने पर सर्वविरत कहलाता है।

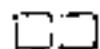
देशविरति प्राप्त करने वाला अविद्यसम्यग्हटि और सर्वविरति प्राप्त करने वाला अविद्यतन्म्यग्हटि अथवा देशविरत इन दोनों में से कोई भी होना है। देश-विरति और सर्वविरति प्राप्त करने के लिए यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण वह दो करण करता है। वारणकाल के अन्तर्मुहूर्त के पहले भी प्रतिसमय अनन्तगुण विशुद्ध्यमान परिणामी आदि उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में तीन करण के पहले ब्रह्मार्थ गर्भ समस्त योग्यता वाला होता है और उसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक उहकर पूर्व में ब्रतार्थ यथा स्वरूप वाले यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण करता है। परन्तु पहाँ अपूर्वकरण में गुणश्चेष्णि नहीं होती, इतनी विशेषता है।

मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का सर्वभा अथ अथवा उपशम करना हो तब तीमरा अनिवृत्तिकरण भी होता है। परन्तु इन दो मूणों को प्राप्त करने पर मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का सर्वभा अथ अथवा उपशम नहीं होता है, परन्तु देशविरति प्राप्त करने पर अप्रत्याख्यानावरण कापाय का और सर्वविरति प्राप्त करने पर प्रत्याख्यानावरण कापाय का क्षयोपशम होता है, जिसमें तीमरा अनिवृत्तिकरण नहीं होता है, किन्तु अपूर्वकरण की समाप्ति के बाद पहले समय में ही आत्मा देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त करती है।

जिस समय यह दो गुण प्राप्त करती है उस समय से उदयावलिका में ऊपर वो प्रथम समय से गुणश्रेणि करती है तथा गण-प्राप्ति के समय से अन्तमृद्गुण काल तक अवश्य वर्धमान परिणाम वाली होने गे पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में ऊपर से अमृत्यात्मगुण दिनिकों का अवलम्बित कर अन्तमृद्गुण काल तक में असंघात गुणावार रूप में स्थापित करनी है। तदैश्वात् गुण-प्राप्ति के समय की अपेक्षा अथवा जिस समय गुणश्रेणि का विचार करते हैं, उसमें पूर्व के समय की अपेक्षा किसी जीव का वर्धमान, किसी जीव को अत्रस्थित अर्थात् पूर्ववल् सदृश—गमान, तुल्य और किसी जीव को हीयमान परिणाम भी होते हैं, जिससे गुणश्रेणि भी समान नहीं होती है। परन्तु वर्धमान परिणाम होने पर परिणामों के अनुमान ऊपर से प्रत्येक समय समान इलिक उत्तरते हैं और हीयमान परिणाम होने पर पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में परिणामानुसार ऊपर से असंघातभाग हीन, संघातभाग होने, सूधानगुण हीन अथवा असंघात-गुण हीन दिनिक उत्तरते हैं।

जिस समय दिनिक उत्तरते हैं, उसी समय अनुदयवतों प्रकृतियों की उदयावलिका के ऊपर प्रथम समय से और द्विदयवती प्रकृतियों में उदयनसमय से अन्तमृद्गुण काल तक के स्थानों में अनुकम से असंघात गुणावार रूप से निश्चिन्न करता है। इस प्रकार जब भक्त देशविरति अथवा सर्वविरति रहे तब तक गुणश्रेणि भी चालू रहती है और सर्वत्र अन्तमृद्गुण काल तक के समान स्थानों में दिनिक रचना होती है।

जानवृज्ञकर वतों का भग निष्ठुर परिणाम बिना होता। नहीं है, इससे जो जानवृज्ञकर वतों का भगकर इन दो गुणों से आव्याप्त नीचे उत्तर तो पुनः विधाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण करके ही उस दो गुणों का प्राप्त कर सकती है परन्तु, अनज्ञान में प्रवल्म मोहनीय कर्म के उदय से जो आपर्युक्त अधोवर्ती गुणावानों में जाती है, उसके बीचे निष्ठुर परिणाम न होने में इन दो करणों को किये बिना भी पुनः देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त हो सकती है।



परिशिष्ट ८

चारित्रमोहनीय की सर्वोपरामता विधि का संक्षिप्त सारांश

चारित्रमोहनीय की उपायमना करने के लिये छठे सातवें गुणस्थान में हुगारों बार गमनागमन करके आत्मा पूर्व में लताओं यथा प्रवृत्त भावितीन कारणों को करती है।

यथाप्रवृत्तकारण अप्रमत्संयत गुणस्थान में, अपूर्वकरण अपूर्वकरण गुणस्थान में और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में करने से यह नीन गुणस्थान तीन कारण रूप हैं। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में स्थितिघात आदि पदार्थ होते हैं। परन्तु अपूर्वकरण के प्रथम समय से सत्ता में चतुर्मान सभी अशुभ प्रकृतियों का बड़मान स्वजातीय प्रकृतियों में गृणसंक्रम होता है तथा अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी विशेषता इस प्रकार है—

इस करण के प्रथम समय से सत्तागत राय कर्म प्रकृतियों के किसी भी दलिक में देष्मोपशमना, निद्रनि और निकाचना नहीं होती है—एवं अपूर्वकरण के प्रथम समय में आयु कर्म के सिवाय जोष सत्ता कर्मों की जो अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध होता है, उसकी अपेक्षा इस गुणस्थान में प्रथम समय में संख्यातगुण हीन अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध होता है अधृति संख्यातभाग प्रमाण होता है।

यथोऽपि यहीं सामान्य से स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध समान होता है, फिर भी बन्ध की अपेक्षा सत्ता बहुत अधिक होती है एवं सामान्य से सातों कर्म की सत्ता और बन्ध समान बताने पर भी स्थिति के अनुसार सत्ता और स्थितिबन्ध में स्थितिघात आदि के द्वारा विधिप्रकार के परिवर्तन होते रहने से अन्त में मोहनीय कर्म का नवीन स्थितिबन्ध सबसे अल्प, उसकी अपेक्षा ज्ञानादरण, दर्शनादरण, अन्तराम इन तीन का असंख्यातगुण किन्तु

स्वस्थान में परस्पर समान, उनसे नाम भोग का असंख्यात्मक और स्वस्थान में परस्पर तुल्य और उनसे भी वेदनीय का स्थितिवद्य असंख्यात्मक होता है।

जिस समय सातकर्म का स्थितिवद्य पत्न्योषप के असंख्याभृते भाग प्रमाण होता है उस समय से असंख्यात्मक समयों में वंचे हुए सत्तागत दक्षिणों की ही उद्दीरणा होती है, परन्तु उससे पूर्व वंचे हुए सत्तागत दक्षिणों की उद्दीरणा नहीं होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की कूल उत्तर-प्रकृतियों का देशधाति रस बंधता है। जिस-जिस समय जिम-जिस प्रकृति का देशधाति रस बंधता है, उसके पूर्व समय तक होनी श्रेणियों (उपग्रह, धर्मपक) में उस-उस प्रकृति का सर्वधाति रस भी बंधता था। सिर्फ देशधाति नहीं, यह समझना चाहिए।

वीथन्तिराय कर्म का देशधाति उनवंश होने के बाद अस्त्यान हजारों स्थितिवात् व्यतीत होने पर अप्रत्याह्यानावरणकापाय अनुरक्त आदि वारह कापाय और नव नीकापाय इस तरह चरित्रमोहनीय की डब्बीस प्रकृतियों की अन्तरकरण किया आरम्भ होती है। उस अन्तरकरण किया वा काल एक स्थितिवात् अथवा अभ्युक्त स्थितिवद्य काल के समान अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

उस अन्तर्मुहूर्ते प्रमाण काल वाली अन्तरकरण किया हारा एक जीव की अपेक्षा देशमान नार मंजवलनकपाय में मे एक कपाय और वेद्यगान नीन वेदों में से एक वेद इस प्रवयश हो प्रकृतियों की प्रथमस्थिति श्रेणि में जब तक अपना-अपना उदय रहता है तब तक अन्तर्मुहूर्ते प्रमाण और शेष उभीस प्रकृतियों गी आवलिका प्रमाण और अनेक जीवों की अपेक्षा चार मंजवलन ओर नीन वेद की प्रथम स्थिति श्रेणि में अपना-अपना। जब तक उदय रहता है तब तक अन्तर्मुहूर्ते प्रमाण और शेष औदृढ़ प्रकृतियों की उदयागानका प्रमाण स्थिति रख, गच्छ में अन्तर्मुहूर्ते प्रमाण स्थान में रही हुई भीगने वोगद डब्बीस प्रकृतियों के दक्षिणों को लहाने से दूर कर अन्यत्र स्थापित कर उनके माझ भोगने योग्य करता है।

जिस समय अन्तरकरण वाले की क्रिया क्षणान होती है। उसके बाद के समय से यह सात पदार्थ प्रवतित होते हैं—

(१) अभी तक भोगनीय कर्म का जो रस द्विस्थानक बंधता था। अब एक-स्थानक बंधता है।

२ मोहनीय कर्म का नवीन स्थितिबंध संख्यात् वर्ष प्रमाण और उदय तथा उद्दीरणा भी संख्यात् वर्ष प्रमाण होती है।

इ अभी तक जो बध्यमान प्रकृतियों की व्यावलिका व्यतीत होने के बाद उद्दीरणा होती थी परन्तु अब बध्यमान प्रत्येक प्रकृतियों की बंध समय से छह आवलिका व्यतीत होने के बाद उद्दीरणा होती है।

४ अभी तक तो मोहनीय कर्म की बध्यमान पुरुषवेद और संज्वलन ऋषाएँ चतुष्क इन गीव प्रकृतियों का परस्पर एक दूसरे में सक्रम होता था किन्तु अब पुरुषवेद का सञ्ज्वलन क्रोधादि चार में, सञ्ज्वलन क्रोध का सञ्ज्वलन मान आदि तीन में सक्रम होता है, परन्तु पुरुषवेद में नहीं होता है। सञ्ज्वलन मान का सञ्ज्वलन माया और लोभ में सक्रम होता है, परन्तु पुरुषवेद और सञ्ज्वलन क्रोध में नहीं होता है। सञ्ज्वलन माया का सक्रम सञ्ज्वलन लोभ में होता है परन्तु पुरुषवेद, सञ्ज्वलन क्रोध व मान में नहीं होता है और सञ्ज्वलन लोभ का किसी में भी सक्रम नहीं होता है अर्थात् सञ्ज्वलन लोभ के संक्रम का अभाव है।

५ अब जो मोहनीय कर्म का नवा स्थितिबंध होता है, वह पूर्व-पूर्व के स्थितिबंध की अपेक्षा संख्यात्मगुण हीन-हीन अर्थात् संख्यात्मग प्रमाण होता है।

६ शेष कर्मों का नवा स्थितिबंध पूर्व-पूर्व के स्थितिबंध की अपेक्षा असंख्यात्मगुण हीन-हीन अर्थात् असंख्यात्मग प्रमाण होता है।

७ द्वितीय स्थितिगत नपूर्सकवेद के दलिकों को उपशमित करने की शुरुआत करता है। उसमें पूर्व-पूर्व समय से उत्तरीतर समय में असंख्यात्मगुण उपशमित करता है और जिस ममय जितना-जितना उपशमित करता है, उसकी अपेक्षा असंख्यात्मग पर-प्रकृति में संक्रमित करता है, इस तरह नपूर्सक वेद को उपशमित करना द्वितीय समय तक समझना चाहिए, परन्तु चरम समय में तो जो अन्य प्रकृति में संक्रमित होता है, उस की अपेक्षा असंख्यात्मगुण उपशमित करता है।

यहाँ वेद्यमान समस्त कर्मों की ऊपर की स्थितियों में से प्रभुत दलिकों को उत्तरकर गुणश्रेणि में क्रमबद्ध स्थापित किये होने से और गुणश्रेणि की ऊपर की स्थितियों में दस्तिक अल्प होने से उद्दीरणा द्वारा अल्प दलिक उदय

में प्राप्त होते हैं और उसकी अपेक्षा स्वामाविक रीति से उक्षय में आने काले दलिक असंख्यातगुण होते हैं ।

इस प्रकार से नपुंसकवेद का उपग्रह होने के बाद हजारों स्थितिशास्त्र प्रमाण काल में इसी क्रम से स्त्रीवेद का उपग्रह करता है । परन्तु स्त्रीवेद की उपग्रहमन क्रिया के काल का संख्यात्वां भाग जाने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावश्यण और अन्तराय इन तीन धारिकाओं का स्थितिवन्ध संख्यात्वां प्रमाण करता है । लत्पश्चात् इन तीनों कर्मों का नवा-नया स्थितिवन्ध पूर्व-पूर्व के स्थितिवन्ध की अपेक्षा संख्यातगुण हीन-हीन यानि संख्यात्वां भाग प्रमाण करता है और अभी तक केवलज्ञानावरण के बिना ज्ञानावश्यकत्वात् और केवलदर्शनावरण के बिना तीन दर्शनावरण इन सात प्रकृतियों का जघन्य द्विस्थानक रस बर्धिता था, परन्तु उसके बढ़ते जिस समय से ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का संख्यात् वर्ष प्रमाण स्थितिवन्ध होता है, इस समय से एकस्थानक रसवन्ध होता है । उसके बाद हजारों स्थितिवाय व्यतीत होने पर पूर्ण रूप से स्त्रीवेद उपग्रहित हो जाता है । स्त्रीवेद का उपग्रह होने के बाद तत्काल हास्त्यषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों की नपुंसकवेद की तरह एक याथ उपग्रह क्रिया प्रारम्भ होती है । इन सात प्रकृतियों की उपग्रह क्रिया के काल का एक संख्यात्वां भाग जाने के बाद नाम और गंत्र इन दो कर्मों का स्थितिवन्ध संख्यात् वर्ष प्रमाण और उस समय वेदनीय कर्म का स्थितिवन्ध असंख्यात् वर्ष प्रमाण होता है । परन्तु वेदनीय कर्म का वह असंख्यात् वर्ष प्रमाण अन्तिम स्थितिवन्ध पूर्ण होने के बाद सभी कर्मों का स्थितिवन्ध संख्यात् वर्ष प्रमाण होता है और अब पूर्व-पूर्व के स्थितिवन्ध की अपेक्षा प्रदेह कर्म का नया स्थितिवन्ध संख्यातगुण हीन-हीन अथोत् संख्यात्वे भाग प्रमाण होता है । उसके बाद हजारों स्थितिवाय व्यतीत होने तब हास्त्यषट्क का सम्पूर्ण उपग्रह होता है और जिस समय हास्त्यषट्क का सम्पूर्ण उपग्रह होता है, उस समय पुरुषवेद की प्रथम स्थिति एक समय प्रमाण और द्वितीय स्थिति में समय न्यून दो आवृत्तिका प्रमाण काल में बच्ये दलिक को छोड़कर शेष सब दलिक उपग्रहित हों जाने हैं और उस समय पुरुषवेद का नाम स्थितिवन्ध सोलह वर्ष प्रमाण होता है ।

पुरुषवेद की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण बाकी हो तब द्वितीय स्थिति में से उदीरणाप्रयोग द्वारा दलिक पुरुषवेद की उदाशावनिका में

नहीं आते हैं, जिससे आगाल रुक जाता है, किन्तु उदीरणा चालू रहती है, तथा प्रथम स्थिति समय न्यून दो आवलिका प्रमाण शेष रहे तब पुरुषवेद अपतद्यग्रह होता है, जिससे उस समय से हास्यषट्क के धनिक पुरुषवेद में नहीं परन्तु संज्वलन कोधादि में संक्रमित होते हैं एवं एक समय प्रमाण पुरुषवेद की प्रथम स्थिति भोगने के बाद आत्मा अवेदक होती है और जिस समय आत्मा अवेदक होती है, उस समय द्वितीय स्थिति में दो भूमय न्यून दो आवलिका प्रमाण में बंधा हुआ पुरुषवेद का दलिक अनुपशांत होता है। यद्योंकि जिस समय जो कर्म बंधता है अथवा अन्य प्रकृति में से संक्रमित होकर आता है, उस समय से एक आवलिका प्रमाण काल तक उसमें कोई करण नहीं लगता है। इसलिये बंधानविका अथवा संक्रमावलिका व्यतीत होने के बाद दूसरी आवलिका के प्रथम समय से उसे संक्रमित अथवा उपशमित करने की क्रिया शुरू करता है और उसे सम्पूर्ण संक्रमित करते अथवा उपशमित करते दूसरी आवलिका पूर्ण हो जाती है, अर्थात् दूसरी आवलिका के चरम समय में सम्पूर्ण संक्रम या उपशम हो जाता है।

इसी प्रकार संज्वलन कोधादि चार कपायों का बंधविच्छेद से बाद के समय में दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बैंधे फ्रोधादि के दलिक जो अनुपशांत होने हैं और जिस समय पुरुषवेद का सौलह वर्ष प्रमाण बंध होता है उस समय चारों संज्वलन कपाय का संलयत हजार वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है।

अवेदक के प्रथम समय में दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में वैर्धे पुरुषवेद का जो दलिक अनुपशांत है, उसे उसी समय न्यून दो आवलिका काल तक क्रमणः पूर्ख-पूर्व के समय से उत्तर के समय में असंख्यात गुणाकार रूप से उपशमित तरता है और बध्यमान संज्वलन कपायों में मध्याप्रवृत्त संक्रम द्वारा पहले समय में अधिक और उसके उत्तर-उत्तरवर्ती समय में विशेष हीन-हीन संक्रमित करता है। इस तरह जिस समय अवेदक होता है, उस समय से दो समयन्यून दो आवलिका के अन्त में पुरुषवेद सम्पूर्ण उपशांत होता है और उस समय चारों संज्वलन कपायों का स्थिति-बंध बत्तीस वर्ष प्रमाण तथा मोहनीय के बिना शेष कभी का संल्यात हजार वर्ष प्रमाण होता है।

अवेदक के प्रथम समय से अप्रस्यारुद्यानावरण, प्रत्यारुद्यानावरण और

संज्वलन इन तीनों क्रोध को एक साथ उपशमित करने की युग्मान करता है और उत्तरोत्तर प्रत्येक समय अभ्यासात्मगुण उपशमात् करता है एवं इन तीनों ओर्धों की उपशमन क्रिया शुरू करता है उस समय जो स्थितिबंध होता है, उस स्थितिबंध के पूर्ण होने के बाद चारों संज्वलन कारणों का नया स्थितिबंध संस्थापन हीन और शेष कर्मों का संस्थापन हीन वानि संस्थापनवे भाग प्रमाण करता है।

संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका श्रेष्ठ रहने पर संज्वलन क्रोध अपत्तद्वय होता है, जिससे उस समय से सत्तागत जन्य प्रकृतियों के दलिक संज्वलन क्रोध में संक्रमित नहीं होते हैं । परन्तु मान आदि तीन में संक्रमित होते हैं । संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण शांत रहे तब आगाल होना बंद हो जाता है और प्रथम स्थिति एक आवलिका द्वाकी रहे तब संज्वलन क्रोध के बंध-दृढ़य-उद्दीरण एक साथ विच्छिन्न होते हैं और उस समय अपत्याक्ष्यानावरण, प्रत्याक्ष्यानावरण क्रोध सम्पूर्ण उपशमात् होता है जौद जिस समय संज्वलन भी उस बंधविच्छेद होता है उस समय प्रथम स्थिति में एक आवलिका और द्वितीय स्थिति में समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बंधे दलिक को छोड़कर शेष बन्ध सब दलिक उपशमित हुआ होता है । प्रथम स्थितिगत आवलिका को स्तिवृक संक्रम से मान में, मान की प्रथम स्थितिगत आवलिका को माया में, माया की लोभ में और बादर लोभ की प्रथम स्थितिगत आवलिका को दसवें गुण-स्थान में किद्वियों में संक्रमित कर छोड़कर दूर करता है ।

क्रोध की द्वितीय स्थिति में बंधविच्छेद के बाद के समय में जो समय न्यून दो आवलिका प्रमाणकाल में बंधा दलिक अनुपशमात् है उसे बंधविच्छेद के बाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल में पूर्णचैद की तरह उपशमित करता है और यद्यापि वृत्त में बंधविच्छेद में संक्रमित करके पूर्ण रूप से उपशमात् करता है । इसी प्रकार मान और माया की द्वितीय स्थिति में बंधविच्छेद के बाद के समय के दलिक के लिये भी समझना चाहिए ।

लोभ के बंधविच्छेद के बाद के समय में जो दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बंधे दलिक अनुपशमात् होते हैं, उनको दसवें गुणस्थान में उतने ही काल में पूर्णरूप से स्वस्थान में उपशमित करता है, परन्तु

मोहनीय कर्मों की अन्य किसी प्रकृति का वंश नहीं होने से संक्रमित नहीं करता है।

संज्वलन क्रोध के वंशविच्छेद के समय चारों संज्वलन कर्मार्थों का स्थितिवंश और मास प्रमाण और ज्ञानावरण आदि ऐसे कर्मों का स्थिति-वंश संख्यात् हजार वर्ष प्रमाण होता है। जिस समय संज्वलन क्रोध के वंशोदय उद्दीरण का विच्छेद होता है, उसके बाद के समय से मान की द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को आकृष्ट कर अन्तरकरण रूप खाली जगह में लाकर इस गुणस्थान में जितना काल मान के उदय का रहने वाला है, उससे एक आवलिका अधिक काल तक में पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात् गुणाकार दिनिक स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाकर उनका उदय करता है।

संज्वलन मानोदय के प्रथम समय में मान आदि तीन का स्थितिवंश चार मास प्रमाण होता है और उसी समय से अप्रत्याश्यानावरण, प्रत्याश्यानावरण और संज्वलन इन तीनों प्रकार के मान को उपशांत बनाए शारम्भ करता है। जब यह दो प्रथम दृश्यी सम्प्रभूत तीन आवलिका रहती हैं तब संज्वलन मान अपतद्ग्रह हो जाता है, जिससे उस समय से अन्य प्रकृति के दलिक संज्वलन मान में संक्रमित नहीं होकर माया और लोभ में संक्रमित होते हैं और संज्वलन मान की प्रथम स्थिति दो आवलिका शेष रहे तब आगाम रक जाता है और प्रथम स्थिति एक आवलिका शेष रहे सब अप्रत्याश्यानावरण, प्रत्याश्यानावरण मान का सम्पूर्ण रूप से उपशम हो जाता है और संज्वलन मान के वंश, उदय, उद्दीरण का विच्छेद होता है और मान की प्रथम स्थिति में एक आवलिका और द्वितीय स्थिति में रमयन्यून दो आवलिका काल में बंधे दिनिक के बिना संज्वलन मान का भी सर्व दलिक उपशमित हुआ होता है।

संज्वलन मान के वन्धविच्छेद के समय संज्वलन मान आदि तीन कर्मार्थ का स्थितिवंश दो मास प्रमाण और शेष ज्ञानावरण आदि कर्मों का संख्यात् वर्ष प्रमाण होता है। संज्वलन मान के वन्धविच्छेद के बाद के समय में संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को आकृष्ट कर नीबूं गुणस्थान में जितने काल माया का उदय रहने वाला है, उतने से आवलिका अधिक काल प्रमाण अन्तरकरण रूप खाली स्थान में दलिकों को लाकर गुण-

श्रेणि के क्रम से उदयसमय से लेकर असंख्यत गुणाकार रूप से स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाकर उसका वेदन करता है।

मायोद्य के प्रथम समय के अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन इन तीनों प्रकार की माया को उपशमित करने की शुरुआत करता है और संज्वलन माया की प्रथम मिथ्यति समयन्दून तीन आवलिका रहे तब संज्वलन माया अपतदग्रह होने से अन्य प्रकृति के दलिक उसमें संक्रमित नहीं होते हैं परन्तु लोभ में ही संक्रमित होते हैं तथा प्रथम त्वरित दो आवलिका यथा रहे तब आगाल और एक आवलिका शेष रहे तब बन्ध-उदय-उदीरणा का एक साथ विच्छेद होता है और उसी समय अप्रत्याख्यानीय और प्रत्याख्यानीय माया का सम्पूर्ण उपशम हो जाता है, परन्तु संज्वलन माया का प्रथम मिथ्यति में एक आवलिका और द्वितीय मिथ्यति में समयन्दून दो आवलिका प्रमाण काल में बन्धा दलिक अनुपशमित होता है और उस अनुपशमित दलिक की भी उस समय से समयोन दो आवलिका काल में उपशमित करता है।

संज्वलन माया के बन्धविच्छेद के समय संज्वलन माया और लोभ का एक मास प्रमाण तथा शेष कर्मों का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध होता है। मायोद्य के विच्छेद के बाद के समय में लोभ के द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को खीचकर इसके बाद अब जिनना काल लोभ के उदय का रहता है, उस काल के तीन भाग मान कर दो भाग प्रमाण काल में यानि नीबूं गुणस्थान के बाल से तक आवलिका अधिक काल प्रमाण अन्तरकरण रूप खाली स्थान में दलिकों को लाकर प्रथम समय से असंख्यत गुणाकार रूप से स्थापित कर प्रथमस्थिति बना उसका उदय शुरू करता है एवं संज्वलन माया के बन्धविच्छेद से बाद के समय में अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन इन तीनों लोभ को उपशमित करने की शुरुआत करता है तथा संज्वलन की प्रथम मिथ्यति समयन्दून तीन आवलिका बाकी रहे तब संज्वलन लोभ अपतदग्रह होने से दोनों लोभ को स्वस्थान में ही उपशमित करना है परन्तु पतदग्रह के अभाव में संक्रमित नहीं करना है और नीबूं गुणस्थान के चरम समय में अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय लोभ पूर्ण उपशमित हो जाता है।

जिस समय संज्वलन लोभ का उदय होता है उस समय से लोभ के उदय काल के तीन विभाग करता है और उनमें से प्रथम दो भाग में दलिकों को स्थापित करता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। उनमें लोभ के वेदन के पहले

भाग का अष्टवकर्णकरणाद्वा, दूसरे भाग का किटिकरणाद्वा और तीसरे भाग का नाम किटिवेदनाद्वा है। इनमें से संज्ञाते स्थितिघात प्रमाण अष्टवकर्णकरणाद्वा काल में द्वितीय स्थिति में रहे संज्वलन लोभ के दलिकों के प्रत्यंक समय अपूर्वस्पष्टिक करता है। अर्थात् अनादि संसार में बन्ध द्वारा किसी भी समय संज्वलन लोभ के न किये त्रीं क्षेत्रे इस समय वध्यमान लोभ के रसस्पष्टिकों के समान सत्तागत दलिकों के रसस्पष्टिकों में से कितने ही नवे रसस्पष्टिक बनाता है, यानि प्रवर्धमान रसाणुओं का क्रम तोड़े विना सत्तागत रसस्पष्टिकों को बनन्तगुण हीन रस वाला कर नक्षीन रसस्पष्टिक बनाता है और वे ही अपूर्वस्पष्टिक कहलाते हैं। तत्त्वचाल लोभ वेदन करने के दूसरे भाग में प्रवेश करता है और वही किटिकरणाद्वा का काल है। उस किटिकरणाद्वा के प्रथम समय में संज्वलन लोभ का स्थितिबन्ध दिवसपृथक्त्व और शेष कार्यों का धर्म मृथाप्रदर्शन होता है।

किटिकरणाद्वा के प्रथम समय से चरम समय तक प्रत्येक समय द्वितीय स्थिति में रहे हुए संज्वलन लोभ के पूर्व और अपूर्व स्पष्टिकों में से किसेक दलिकों को प्रहण कर उनमें से अनन्त-अनन्त किटियां बनाता है। अर्थात् पूर्व में प्रवर्धमान रसाणुओं के क्रम का त्याग किये विना अनन्तगुण हीन रस वाले अपूर्वस्पष्टिक किये थे परन्तु अब विशुद्धि का परम प्रकर्ष होने से एकोत्तर प्रवर्धमान रसाणुओं का क्रम तोड़कर अपूर्वस्पष्टिक करने पर भी अनन्तगुण हीन रस करता है।

एक रसस्पष्टिक में जितनी वर्गणायें होती हैं उनके अनन्तवें भाग जितनी किटियां प्रथम समय में बनाता है। प्रथम समय में बनायी हुई किटियों की अपेक्षा दूसरे समय में असंस्थातवें भाग प्रमाण किटियां बनाता है। इस तरह किटिकरणाद्वा के चरम समय तक पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंस्थातगुण हीन-हीन अर्थात् असंस्थातवें भाग प्रमाण किटियां बनाता है और सर्वोत्तम रसवाली किटियों का रस भी यह जब्त्य रसस्पष्टिक के रस से अनन्तगुण हीन अर्थात् अनन्तवें भाग जितना होता है।

पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में अनन्तगुण विशुद्ध होती है एवं हथोरवधाव से ही अधिक रस वाले कर्म परमाणु अल्प और अल्प-रस वाले कर्म परमाणु अधिक होते हैं, जिससे प्रथम समय की गई सभी

किट्रियों में रस की अपेक्षा दूसरे समय में की गई किट्रियों में रस अनन्तगुण हीन यानि अनन्तवें भाग प्रमाण होता है और इससे भी तीसरे समय में को गई किट्रियों में रस अनन्तगुण हीन होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में की गई किट्रियों में क्रमशः अनन्तगुण हीन-हीन रस होता है।

प्रथम समय की गई सभी किट्रियों का दलिक बाद के समय की गई किट्रियों के दलिक की अपेक्षा अल्प होता है और प्रथम समय की गम्भीर किट्रियों के दलिक से दूसरे समय की गई किट्रियों का दलिक अमाल्यानुग्रण, उससे भी तीसरे समय की गई किट्रियों का दलिक अमाल्यानुग्रण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में की गई किट्रियों का दलिक क्रमशः असंख्यत असंख्यत गुण होता है।

यदि अल्पबहुत्व तो हुआ पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में की गई किट्रियों के रस और दलिकों का तथा प्रत्येक समय की गई किट्रियों का परस्पर अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिए—

प्रथम समय में की गई अनन्त किट्रियों में से सब से अल्परस वाली जो किट्रिट है, उसे प्रथम स्थापन कर उसके बाद उत्तरोत्तर प्रवर्धमान अधिक रसवाली प्रथम समय की गई सभी किट्रियों का अनुक्रम से स्थापन करें तो प्रथम किट्रिट में सबसे अल्प रस होता है, उससे दूसरी किट्रिट में अनन्तगुण, उसमें तीसरी में अनन्तगुण इस प्रकार पूर्व-पूर्व किट्रिट की अपेक्षा आगे-आगे की किट्रिट में अनन्तगुण रस होता है और उसी प्रथम समय की गई अनन्त किट्रियों में की जो सर्वाल्प रस वाली प्रथम किट्रिट है, उसमें उसी प्रथम समय की गई अन्य किट्रियों के दलिक की अपेक्षा अधिक दलिक होते हैं और अनन्तगुण अधिक रस वाली आगे-आगे की किट्रिट में किसी छोट-छोट दलिक होते हैं।

उसी प्रकार किट्रिकरणाद्वा के बरम समय तक की जाने वाली किट्रियों के विषय में जानना चाहिए। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि प्रथम समय की गई किट्रियों में की जो किट्रि अबसं अल्प रस वाली है, वह भी दूसरे समय की गई किट्रियों में की सबसे अधिक रस वाली किट्रि की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक रस वाली है और दूसरे समय की गई किट्रियों में की जो

किंतु सबसे अल्प रस वाली है, वह भी तीसरे समय की गई सबसे अधिक रस वाली किंतु की अपेक्षा भी अनन्तगुण रस वाली है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय में की गई किंतुओं में की जो किंटि सबसे अल्प रस वाली है, वह भी आगे-आगे के समय में की गई सबसे अधिक रसवाली किंतु की अपेक्षा अनन्तगुण रस वाली होती है।

प्रथम समय में की गई किंटियों में की जो किंतु सबसे अल्प रस और बहुत प्रदेश वाली है उसके दलिक की अपेक्षा भी दूसरे समय की गई किंतुओं में जो सबसे अधिक रस और अल्प प्रदेश वाली है, वह भी असंख्यातगुण दलिक वाली है। उसकी अपेक्षा तीसरे समय की गई किंतुओं में जो किंतु सबसे अधिक रस और अल्प दलिक वाली है, वह भी असंख्यातगुण दलिक वाली है, उसकी अपेक्षा चौथे समय की गई किंतुओं में जो किंतु सबसे अधिक रस और अल्प प्रदेश वाली है, वह भी असंख्यातगुण प्रदेश वाली है। इस प्रकार चार मध्य समय तक समझना चाहिए।

किंटिकरणाद्वा के बहुत से संख्यात भाग जायें तब संज्ञलन लोभ का स्थिति-बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का दिवसपृथक्तव और शेष तीन कर्म का प्रभूत हजारों बर्ष प्रमाण होता है और वह भी हीन-हीन होते किंटिकरणाद्वा के चरम समय में याति नौवें गुणस्थान के चरम समय में अभी बताये गये अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा संज्ञलन लोभ का बहुत ही छोटे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का एक अहोरात्र प्रमाण और शेष तीन कर्म का कुछ न्यून दो बर्ष प्रमाण स्थिति-बंध होता है और उसके बाद के समय में जोव दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है।

जिस समय दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है उस समय लोभ वैदनाद्वारा लोभ की दो लूटीयाँ भाग प्रमाण की गई प्रथम-स्थिति की एक आवलिका और चरम दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाणकाल में बड़े एवं किंटिकरणाद्वा में की गई किंतुओं के सिवाय शेष संज्ञलन लोभ का सर्व दलिक उपशान होता है और किंटिकरणाद्वा में द्वितीय स्थिति में जो किंतुओं की है उसमें वे दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में कितनी ही किंतुओं को आवधित कर अन्तरकरण रूप खाली स्थान के काल प्रमाण काल में स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाता है और भोगता है एवं उसी समय

से नीवें गुणस्थान से अन्तिम गोप्य रूप से अन्तिमित्वा वाल में इथे हए संज्ञलन लोभ की दो भयय न्यून दी आवलिका शाल में स्वस्थान में उपशांति करता है, एवं किटिकरणद्वा की वाकी रही संज्ञलन लोभ की आवलिका को स्तियुक संक्रम से प्रथम स्थिति में संश्लिष्ट कर आवलिका प्रमाण काल में भोगकर क्षय करता है।

इसवें गुणस्थान के प्रथम समय में किटिकरणद्वा के पहले और अन्तिम समय में की कई किटिक्टियों के सिवाय शेष समय में की मई प्रत्येक किटिक्टियों के कितने ही दलिक उदय में आ जायें इस रीति से स्थापित करता है और प्रथम समय में की गई किटिक्टियों के ऊपर का असंचालित भाग छोड़कर शेष किटिक्टियों उदीरण द्वारा प्रथम समय में उदय में आती है। इसमें समय उदयप्राप्ति किटिक्टियों का असंचालित भाग बिना भोगे ही उपशमित करता है और द्वितीय स्थिति में से उदीरण द्वारा एक असंचालित भाग प्रमाण किटिक्टियों को अनुभव करने के लिये इहां वर्तके उदयसमय में स्थापित कर भोगता है। इस प्रकार इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक प्रत्येक गणथ उदयप्राप्ति किटिक्टियों का एक-एक असंचालित भाग अनुभव किये बिना उपशमित करता है और द्वितीय स्थिति में से उदीरण द्वारा प्रबूँ असंचालित भाग प्रमाण किटिक्टियों की प्रहण कर अनुभव करने के लिये उदय-समय से स्थापित करता है।

इस गुणस्थान के प्रथम समय तक वितीय स्थिति जो मूक्षम किटिक्टित दलिक अनुगामीत है, उसे भी पूर्व पूर्व के समय में आगे-आगे के समय में असंचालित भाग का रूप से उपशमित कर उदय समय में सम्पूर्ण उपशांति कर लेता है। इस गुणस्थान के उदय समय में ज्ञानावरण, दण्डनावरण और अन्तराय कर्म का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, नाम और गोष्ठ कर्म का सोलह मुहूर्त और वेदनीय का चौबीस मुहूर्त प्रमाण गिरितिवश होता है। उसके बाद के समय में ज्ञानावरण आरहवें उपशांतिमोहगुणस्थान में प्रवेश करनी है। इस गुणस्थान में भोहनीय कर्म सम्पूर्ण उपशांति होता होने में उसका अनुदय होता है। इस गुणस्थान का करन सरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

इस गुणस्थान में भोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम होने से उसकी मत्तागत विहीनी भी प्रब्रह्मियों में संक्रमण, उद्वतना, अपवर्तना, उदीरण, निद्रा-

और निकापना इन छह में से बरोड़ी भी करण नहीं सकता है तथा इस अन्त-मुहूर्त काल गों मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का उदय भी नहीं होता है, मात्र सत्तागत मिथ्यात्व और मिथ का संक्रम और दर्शन मोहनिक की अपवलंगा होती है।

यह क्रोधोदय से श्रेणि मांडने वाले की अपेक्षा समझना चाहिए। मानोदय से श्रेणि मांडने वाले को तपुसकवेद की तरह तीनों क्रोध एक राश उपशांत होते हैं। मायोदय से श्रेणि पर आस्त होने वाले को पहले तीन क्रोध, बाद में तीन मान तथा इसी प्रकार लोभोदय से श्रेणि मांडने वाले को पहले तीन क्रोध, फिर तीन मान और इसके बाद तीन माया उपशांत होती हैं और लोभ को तो पहले की तरह ही उपशमित करता है।

क्रोधोदय से श्रेणि मांडने वाले को जहाँ क्रोध का बंधविच्छेद होता है, उसी स्थान पर गान से श्रेणि मांडने वाले के भी क्रोध का बंधविच्छेद होता है और जिस समय क्रोध का बंधविच्छेद होता है, उसी समय समयन्यून दो आवलिका काल में बधा हुआ क्रोध जो अनुपशांत होता है, उसको बाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल में क्रोधोदय से श्रेणि मांडने वाले को तरह उपशमित करता है और यथाप्रबृत्त संक्रम से संक्रमित करता है।

इसी नरह मायोदय से श्रेणि मांडने वाले को भी जिस स्थान पर क्रोध का बंधविच्छेद होता है, उसी स्थान पर क्रोध का और जिस जगह मान का बंधविच्छेद होता है उसी जगह मान का और लोभोदय से श्रेणि मांडने वाले को क्रोधोदय से श्रेणि मांडने वाले को जिस-जिस स्थान पर बंधविच्छेद होता है, उसी-उसी स्थान पर ही क्रमशः संज्वलन क्रोध, मान और माया का बधन-विच्छेद होता है और अपने-अपने बंधविच्छेद के गमन समयन्यून दो आवलिका काल में बंधी हुई उस-उस वापाय का जो दलिक अनुपशांत होता है उसे अपने-अपने बंधविच्छेद से बाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल में पहले के तरह ही उपशमित करता है और यथाप्रबृत्त संक्रम से संक्रमित करता है।

अन्तमुहूर्त प्रमाण यारहवें गुणस्थान का काल पूर्ण होने के पहले ही यदि मनुष्य भव का आयुष्य पूर्ण हो जाये तो काल करके सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्तम होता है और वह भव के क्षय से पतन हुआ कहलाता है और भरण

के चरण सभय तक रथारहवां गुणस्थान होता है परन्तु देवभव के प्रथम सभय में ही मध्य के छह गुणस्थानों का स्वर्ण किये बिना जीवे गुणस्थान को प्राप्त होता है और उस गमय से सभी करण प्रवृत्त होने हैं।

देवभव के प्रथम समय में जिस-जिस जीव के चारित्रमोक्षनोय की जिस प्रकृति का उदय होता है उस-उस कर्म प्रकृति की द्वितीय स्थिति में जो प्रथम वनिक उपशान्त हुए थे, उनमें से अपवर्तना द्वारा अन्तरकरण रूप खाली स्थान में दलिक लाकर उदयसमय में आवलिका प्रमाण बाल में गोपुष्टकार और आवलिका में ऊपर प्रथम गमय से गुणश्रेणि के शीर्ष भक्त असंस्था। गुणाकार रूप से और उगके बाद पुनः विशेष हीन-हीन स्थापित करता है तथा मोहनीय कर्म भी जो प्रकृतियाँ देवभव के प्रथम गमय में उदय में नहीं आई हैं, उन प्रकृतियों के दलिकों का द्वितीय स्थिति में से अपवर्तनाकरण द्वारा अन्तरकरण रूप खाली स्थान में लाकर उदयावलिका के ऊपर के प्रथम गमय से गुणश्रेणि के शीर्ष तक असंस्थान गुणाकार और उनके ऊपर विशेष हीन-हीन स्थापित करता है और उससे प्रथम गमय में जो अन्तरकरण रूप खाली स्थान धा वहाँ भी पुनः दलिक स्थापित हो जाने से और खाली स्थान के भग जाने से अन्तरकरण नहीं रहता है।

आयुष्य पूर्ण न हो गा भी इस गुणस्थान का बाल अन्तर्मुहूर्ण प्रमाण हो होने गे उसके पूर्ण होने पर जीव अद्वय गिरता है और वह अद्वाक्षय रूप पगने कहलाना है। जि-से जिस क्रम से लड़ा था उभी क्रम से यानि भ्यारहवे से रस्वे, नौवे, आठवे गुणस्थान ने आकर वहाँ से राज्वे और छठे गुणस्थान में हजारों बार परिवर्तन कर लिया होना है जीव कोई जीव नहीं, कोई जीवे गुणस्थान में आकर भित्ति द्वीपा है और कोई-कोई वहाँ से गिरकर पहले गुणस्थान में भी जाना है।

अद्वाक्षय से गिरने पर क्रमः प्रथम भाँडवलन लोभ, अन्तर गाया, मान और औषध का उदय होता है और जिम-जिम प्रकृति का जिन-जिन सभय उदय होता है, उस समय उसकी द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को आकर्षित कर आवलिका प्रमाण काल में गोपुष्टकार और उगके बाद गुणश्रेणि के शीर्ष भग तक असंस्थान गुणाकार रूप और बाद में पुनः हीन-हीन दलिक स्थापित करता है एवं अवेद्यमान मोहनीय कर्म को अन्य प्रकृतियों के द्वितीय स्थिति में रहे हुए दलिकों को जब-जब अनुपश्चात करे तब-तब उदयावलिका

के ऊपर प्रथम स्थिति से गुणश्रेणि जिरते वर्ता असंव्याप्त गुणाकार रूप से और बाद में हीन-हीन स्थापित करता है एवं स्थितिधा। आदि चढ़ते समय जैसे होते थे वैसे गिरते समय भी विपरीत क्रम से होते हैं अर्थात् चढ़ते समय क्रमशः स्थितिधान आदि जो अधिक-अधिक होते थे वै गिरते समय अल्प-अल्प प्रमाण में होते हैं और चढ़ते समय जिस-जिस स्थान में जिस-जिस प्रकृति का वंध, उदय, देशोवशम, निष्ठिति और निकायना-करण का विच्छेद हुआ था उसी प्रकार से गिरते समय उस-उस स्थान में वै सब पुनः प्रारम्भ हो जाते हैं, परन्तु चढ़ते समय अन्तरकरण करने के बाद पुरुषवैद और चार मंज्वलन का संक्रम जो क्रमणः ही होता था और लोभ के संक्रम का सर्वथा अभाव था एवं ब्रह्ममान कर्म की जिस समय उह अवलिका के बाद उदीरणा होनी थी उके बदले गिरते समय पुरुषवैद और चार मंज्वलन का परम्परा पांचों का पांच में संक्रम होता है, मंज्वलन लीभ का भी संक्रम होता है और ब्रह्ममान कर्मना की बंधावलिका के बाद उदीरणा थी होती है एवं चढ़ते समय गुणश्रेणि की रचना के लिये प्रति समय ऊपर की स्थितियों में से असंन्यासगुण दलिक उत्तरते थे, उसके बदले गिरते समय प्रत्येक असर्वात्मगुण हीन-हीन दलिक उत्तरते हैं और पूर्व की तरह स्थापित होते हैं।

क्षपक श्रेणि में जिस-जिस स्थान पर जिस-जिस प्रकृति का जितना स्थितिबंध होता है उसकी अपेक्षा चढ़ते समय उपराम श्रेणि में उस-उस स्थान पर दुगुना और गिरते समय उस-उस स्थान में उससे भी दुगुना अर्थात् क्षपक श्रेणि से चौगुना स्थितिबंध होता है।

क्षपक श्रेणि में जिस-जिस स्थान पर शुभ और अशुभ प्रकृतियों का जितना रसबंध होता है, उसकी अपेक्षा उपराम श्रेणि में चढ़ते समय क्रमशः अनन्तगुण हीन और अनन्तगुण अधिक और गिरते समय उससे भी शुभ का अनन्तगुण हीन और अशुभ का अनन्तगुण अधिक रसबंध होता है।

श्रेणि पर से गिरता जोव मोहनीय-प्रकृतियों को गुणश्रेणि काल की अपेक्षा ब्रह्ममान मंज्वलन के काल से अधिक काल बाली बनाता है और चढ़ने के काल की गुणश्रेणि की अपेक्षा तुल्य बनाता है। जिस कषाय के उदय से उपराम श्रेणि पर आरूढ़ हुआ था, गिरते समय जब उस कषाय

का उदय होता है तब उस कथाय की गुणश्रेणि श्रेष्ठ कर्म की गुणश्रेणि के समान करता है।

तीन आयु के बिना देवायु को बाधकर अथवा किसी भी आयु को बाधे बिना आत्मा उपशम श्रेणि कर सकती है, इसलिये यदि बढ़ायुष्क उपशम श्रेणि कर और उपशम सम्बद्धत्व के काल में घाह किसी भी गुणस्थान में काल करे तो अवश्य वैमानिक देव में ही उत्तम होता है और यदि उपशम युष्क हो तो अन्तरकरण पूर्ण होने के बाद यानि उपशम सम्बद्धत्व का काल पूर्ण होने के बाद परिणामों के अनुसार चार में से किसी भी आयु को बाधकर काल कर उस-उस गति में जाती है।

एक बार एक भव में उपशम श्रेणि कर दूसरी बार क्षपक श्रेणि कर आत्मा मोक्ष में भी जा सकती है और यदि क्षपक श्रेणि न करे तो एक भव में दो बार उपशम श्रेणि कर सकती है परन्तु दो बार उपशम श्रेणि करने के बाट उभी भव में क्षपक श्रेणि नहीं कर सकती है। यद्यपि भव चक्र में उपशम श्रेणि चार बार कर सकती है परन्तु नद्वान्त के भग्नुसार एक भव में क्षपक अथवा उपशम इन दोनों में से एक ही श्रेणि कर सकती है जिससे एक भव में उपशम श्रेणि की हो तो उस भव में क्षपक श्रेणि नहीं कर सकती है।

इस प्रकार पुरुषवेद के उदय में श्रेणि पर आङड़ होने वाले की अपेक्षा जानना चाहिए। परन्तु स्त्रीवेद के उदय में श्रेणि भाँड़ने वाला पहले नपूरुसक ऐश्वर्य को उपशमित करता है। उसके बाद एक उदयसमय को छाँड़कर सम्पूर्ण स्त्रीवेद को उपशमित करता है और स्त्रीवेद के उदय के विच्छेद के साथ ही पुरुषवेद का विच्छेद होता है। उसके बाद के समय में अवेदक हुआ वह आत्मा हारयषद्क और पुरुषवेद इन सान प्रकृतियों का एक साथ उपशमित करता है।

नपूरुसकवेद के उदय से श्रेणि माँड़ने वाला पहले पुरुषवेद अथवा स्त्रीवेद से श्रेणि माँड़ने वाला जिस स्थान पर नपूरुसकवेद को उपशमित करता है, वहाँ तक तो मात्र नपूरुसकवेद को उपशमित करने को किया करता है, परन्तु नपूरुसकवेद का अग्रुक उपशम होने के बाद उसके साथ ही स्त्रीवेद को भी उपशमित करने की किया करता है और नपूरुसकवेद के उदय के चरम समय में

न पुरुषवेद तथा स्त्रीवेद वोनों एक साथ सम्मूर्ण उपशांत हो जाते हैं और उसी समय पुरुषवेद का बन्धविभक्तेद होता है और वाद के समय से अवेदक होकर हास्यघटक् और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों को एक साथ उपशमित करता है। उसके बाद तो पुरुषवेदोदय में शेषी पर आरूढ़ होने वाला कोधारि को जैसे उपशमित करता है जसी प्रकार यही भी उपशांत करता है।

इस प्रकार से चारित्र भोहनीय की सर्वोपरिशमना विधि जानना चाहिए। प्रस्तुत कथन विहंगाचलोकनभाश्र है। विस्तृत वर्णन ग्रंथ में देखिये।

भिन्न कषाय एवं वेद के उदय से श्रेणिआरोहण क्रम

संज्ञवलन क्रोधोदय द्वारा—

संज्ञवलन क्रोध का वेदन करते हुए क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानविक को (क्रोधवत्), तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

संज्ञवलन मानोदय द्वारा—

संज्ञवलन मान का वेदन करते हुए क्रोधत्रिक को (नपुंसक वेदवन्), तदनन्तर मानविक को, तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

संज्ञवलन मायोदय द्वारा—

संज्ञवलन माया का वेदन करते हुए पहले क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानविक को, तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

संज्ञवलन लोभोदय द्वारा—

संज्ञवलन लोभ का वेदन करते पहले क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानविक को, तदनन्तर मायात्रिक को और तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।
पुरुषवेदोदय से श्रेणि-आरंभक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुंसकवेद को उपशमित करता है, उसके बाद अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर स्त्रीवेद को, तत्पश्चात् एक समय के अनन्तर पुरुषवेद, हास्यपट्टक की उपशमना का प्रारम्भ। उसके बाद हास्यपट्टक का उपशम होता है और पुरुषवेद की एक लिपति शेष रहती है। तत्पश्चात् पुरुषवेदोदय की उपशमित; तत्पश्चात् उदयावलिका और समयोन आवलिकाद्विकबद्ध को छोड़कर समस्त पुरुषवेद का उपशम होता है।

स्त्रीवेदोदय से श्रेणि-आरंभक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुंसकवेद को, तत्याप्तचात् स्त्रीवेद को उपशमित करता है। उसके बाद समयानन्तर पुरुषवेद, हास्यषट्क की उपशमना का प्रारम्भ होता है और उसके बाद की शेष विधि पुरुषवेदवत् समझना चाहिये।

नपुंसकवेदोदय से श्रेणि-आरंभक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुंसकवेद की उपशमना प्रारम्भ होती है, उसके बाद नपुंसक और स्त्रीवेद को उपशमित करता है, तदनन्तर स्त्रीवेद उपशान्त होता है और नपुंसकवेद की एक स्थिति अवशिष्ट रहती है। उसके बाद समयानन्तर नपुंसकवेद उपशमित हो जाता है। उसके बाद समयानन्तर पुरुषवेद हास्य-षट्क की उपशमना प्रारम्भ होती है। शेष विधि पुरुषवेदवत् समझना चाहिये।

